भारत — देश और लोग

पालतू पशु

लेखक

हरबंस सिंह

संशोधन

बी. पी. एस. पुरी

अनुवाद

प्रेमकान्त भार्गव

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

विषय सूची

मूल अंग्रेजी के तृतीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अप्रैल, 1966 के दौरान प्रकाशित हुआ था, "पालतू पशु" में उन पशुओं की सम्पदा और किस्मों के बारे में जानकारी दी गई है जिन्हें मनुष्य ने सफलतापूर्वक पालतू बना लिया है और नाना प्रकार के कार्यों जैसे भोजन-कार्य, परिवहन, आदि के लिए उनका उपयोग किया है।

1980 में प्रकाशित हुए द्वितीय संस्करण के पश्चात् इस पुस्तक का आद्योपान्त पुनरीक्षण आवश्यक हो गया था ताकि इसमें नवीनतम उपलब्ध आंकड़े और समाज पर उनके प्रभाव की जानकारी दी जा सके।

भारत, चीन के बाद, अधिकतम जनसंख्या वाला देश है। भारत की समान तौर पर विशाल पशुधन संख्या, जो 36 करोड़ 90 लाख 60 हजार है, का तात्पर्य यह है कि देश में हर दो मनुष्यों के लिए एक पालतू पशु है।

ढोर हमारे पशुधन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग हैं। इनकी संख्या 24 करोड़ 19 लाख 60 हजार है जिसमें 6 करोड़ 19 लाख 60 हजार भैंसें हैं। भेड़ और बकरियों की कुल संख्या 11 करोड़ 62 लाख 40 हजार है जब कि घोड़ों, खच्चरों, गधों और ऊंटों की संख्या 31 लाख 60 हजार है। 76 लाख सूअरों की संख्या हमारे कुल पशुधन का दूसरा महत्वपूर्ण भाग है।

पशुधन से देश की कृषि से होने वाली वार्षिक आय का लगभग 10.9 प्रतिशत प्राप्त होता है। इस अनुपात में कामकाजी पशुओं द्वारा कर्षण शक्ति का सार्थक मूल्य शामिल नहीं है। रुपयों में वर्तमान पशुधन का योगदान प्रतिवर्ष 10 हजार करोड़ रुपये से अधिक है।

भारत में विश्व की कुल पशुधन संख्या का लगभग 12 प्रतिशत है और यदि इन सभी पशुओं को एक पंक्ति में खड़ा किया जाए तो यह विषुवत रेखा के साथ विश्व में 11 बार तक आएगी और आसानी से पृथ्वी से चद्रंमा तक की दूरी को पूरा कर लेगी।

भारत के ढोरों की संख्या उत्तरी अमेरिका की संख्या के बराबर है। ढोरों की इस विशाल संख्या के बावजूद, जिसमें संसार की लगभग आधी भैंसें हैं, विश्व के ढोरों का आठवां भाग और विश्व की बकरियों की संख्या का छठा भाग है। भारत का दुग्ध उत्पादन 1977 में केवल 2 करोड़ 83 लाख 55 हजार मीट्रिक टन था जिसकी नवीनतम अभिलिखित पशुधन संख्या उपलब्ध है। उत्तरी अमेरिका में जहां हमारे यहां के ढोरों की तुलना में केवल 40 प्रतिशत ढोर हैं, हमारे यहां के दुग्ध के तीन गुने दुग्ध का उत्पादन होता है। भारत में प्रति व्यक्ति दूध की औसत खपत 123 ग्राम है जो पोषण के लिए चिंताजनक रूप से कम है और अमेरिका, न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया आदि जैसे देशों में खपत का बहुत छोटा हिस्सा है क्योंकि वहां दैनिक खपत का औसत 500 ग्राम से 750 ग्राम तक है।

भारतीय ढोर का दुग्ध उत्पादन अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। डेनमार्क में दूध देने वाली प्रत्येक गाय का वार्षिक उत्पादन औसत 4,401 लिटर है, स्विट्जरलैंड में 4,156 लिटर है, संयुक्त राज्य अमेरिका में 5,386 लिटर है और यूनाइटेड किंगडम में 4,773

लिटर है जब कि भारत में गाय का औसत वार्षिक दुग्ध उत्पादन केवल 500 लिटर है। भारतीय भैंसों का दुग्ध उत्पादन कुछ ज्यादा है किंतु भारत में कुल उपलब्धता के सार्थक संसाधन के लिए औसत उत्पादन में अत्यधिक सुधार करना होगा।

दुग्ध उत्पादन बढ़ाने के लिए कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं और गैर सरकारी अनुमान है कि भारत में वर्ष 1985-86 के दौरान 41 हजार मीट्रिक टन दूध का उत्पादन किया जाएगा।

भारत में 8 करोड़ 6 लाख 40 हजार कामकाजी ढोर हैं। खेतीबाड़ी के लिए उपलब्ध कुल भूमि 15 करोड़ 67 लाख 80 हजार हेक्टर है। इसका मतलब यह है कि बैलों की एक जोड़ी 3.9 हेक्टर भूमि ही जोतने के लिए समर्थ है। भारत में फसलों की कम उपज के लिए, स्पष्ट रूप से, हमारे कृषक पशुओं की इतनी कम कार्य क्षमता भी उत्तरदायी कारण है।

पशुधन की अन्य प्रजातियों की स्थिति भी समान रूप से निराशाजनक है। भेड़ों की संख्या के संबंध में भारत का विश्व में पांचवां स्थान है, किन्तु भारत में प्राप्त ऊन का अधिकतर भाग रद्दी क्वालिटी का है। यह रोएंदार, खुरदरा और बारीक कपड़े बनाने के लिए उपयुक्त नहीं होता है। प्रति भेड़ ऊन का वार्षिक उत्पादन भी बहुत कम है, यह औसत 700 ग्राम है जबकि कुछ विदेशी नस्लों का ऊन उत्पादन 5 से 7 किलोग्राम तक है। जहां तक मांस की बात है, भारत में भेड़ का औसत वजन केवल 25 से 30 किलोग्राम तक है जबकि विदेशी भेड़ों का वजन इसका तीन गुणा होता है।

मुर्गीपालन के क्षेत्र में भी भारत में पक्षियों की संख्या मात्र 15 करोड़ 92 लाख 20 हजार है। यहां पर प्रति 100 व्यक्ति मात्र 15 चूजे हैं जब कि डेनमार्क में 540, कनाडा में 373, संयुक्त राज्य अमेरिका में 286, यूनाइटेड किंगडम में 179 और अन्य यूरोपीय देशों में यह संख्या 150-200 चूजे प्रति 100 व्यक्ति है। भारत में प्रति वर्ग किलोमीटर पक्षियों की संख्या संसार में मुर्गीपालन में नीचे से दूसरे स्थान पर है।

भारत के वार्षिक मुर्गी मांस उत्पादन का नवीनतम अनुमान, जो 136 हजार मीट्रिक टन है, विश्व के कुल मुर्गी मांस उत्पादन का 0.47 प्रतिशत है। भारत में 775 हजार टन अण्डों का उत्पादन भी ज्यादा नहीं है क्योंकि यह विश्व के संपूर्ण अण्डा उत्पादन का मात्र 2 प्रतिशत है। भारतीय मुर्गी की अण्डा देने की क्षमता भी विश्व की औसत क्षमता की आधी से कम और विकसित देशों की मुर्गियों की वार्षिक क्षमता का मात्र एक चौथाई है।

मूलत: भारत में पशुओं का पालन विभिन्न प्रतिकूल जलवायु और पर्यावरण संबंधी दशाओं में किया जाता है। पशुपालन केंद्र छोटे छोटे कृषकों के पास होते हैं जिनमें से अधिकांश के लिए पशुपालन फसलों के उत्पादन का एक सहायक धंधा है। कृषक आमतौर पर गरीब और साधनहीन होते हैं। उनके पास दो हेक्टर से भी कम जमीन होती है और दो या तीन पशु होते हैं। कुछ यूरोपीय देशों में एक औसत पशु झुंड में 50 से अधिक जानवर होते हैं। मानसून के सिवाय उनके चराने की दशा भी बहुत खराब होती है। बाजार संबंधी सुविधाएं बहुत ही कम हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में जहां लगभग 95 प्रतिशत पशुधन का पालन पोषण किया जाता है, उत्पादित बेचने लायक दूध का अधिकांश हिस्सा घी के रूप में बेचा जाता है जो दुग्ध उत्पादनों में सब से कम फायदा देने वाला है। उत्पादक को उसकी पूरी कीमत भी नहीं मिल पाती है क्योंकि बाजार का कोई प्रभावी संगठन नहीं है और जानवरों की संख्या भी बहुत

कम होती है। सम्पन्न बिचौलिए आमतौर पर ढोरों के स्वामी की जरूरतों के कारण शोषण करते हैं और उनके लाभ का बड़ा भाग हजम कर जाते हैं। इसीलिए कृषक को अपने पशुधन के विकास पर विशेष ध्यान देने के प्रति अरुचि हो जाती है।

भारत में पशुधन उद्योग के उन्नयन और विकास के क्षेत्र में प्रमुख अड़चनें केवल प्रतिकूल जलवायु और अन्य पर्यावरण संबंधी कारण ही नहीं हैं अपितु आजकल के पशुधन की अधिकांश संख्या में कमजोर प्रजनन क्षमता तथा चारे और चरागाहों की अत्यधिक कमी जैसे कारण भी हैं। पशुओं के वंशानुगत गुण कैसे भी क्यों न हों, वास्तविक उत्पादन में उनके गुणों का लाभ तब तक नहीं उठाया जा सकता, जब तक उन्हें उचित और पर्याप्त भोजन न दिया जाये। चारे की कमी, संभवत:, इस समय भारतीय पशुधन की क्षमता को सुधारने में सबसे बड़ा रोड़ा है। कुल क्षेत्र का लगभग 4 प्रतिशत स्थायी चरागाहों और अन्य चराई भूमि के रूप में उपलब्ध है जो बड़ी पशुधन संख्या के चारे के लिए अपर्याप्त है।

भारत में पशुधन द्वारा कृषि से शुद्ध आय का मात्र 10.9 प्रतिशत प्राप्त होता है। देश के पशुधन की प्रचुरता को देखते हुए, यह योगदान बहुत कम है। अधिकांश पश्चिमी देशों में, कृषि से आय में पशुधन का योगदान काफी ज्यादा है, डेनमार्क में 82 प्रतिशत, आयरलैंड में 81 प्रतिशत, स्वीडन में 79 प्रतिशत और नार्वे तथा यूनाइटेड किंगडम में योगदान 78 प्रतिशत है। यद्यपि, भारत में पशुधन का पालन उचित और वैज्ञानिक आधार पर किया जाने लगा है, फिर भी हमारे पशुओं की उत्पादकता बढ़ाने और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनके योगदान में महत्त्वपूर्ण वृद्धि के अभी भी काफी मौके हैं।

भारत की इस निराशाजनक स्थिति में तेजी से परिवर्तन होने आरंभ हो गए हैं। सहकारी संस्थाएं देश के चुने हुए क्षेत्रों में पशुधन उत्पाद के प्रजनन, उत्पादन और विपणन में पूरी तरह सहायता प्रदान करने के लिए तेजी से बढ़ती जा रही हैं। इन क्षेत्रों में और ऐसे अन्य क्षेत्रों में भी जहां बाजार की सुविधाएं मिल गई हैं ऐसा देखने में आया है कि हमें आहार देने और समृद्ध बनाने की पशुधन की क्षमता में प्रभावशाली सुधार हो सकते हैं।

आशा है कि इन पृष्ठों में जो जानकारी दी गई है उससे पाठकों को देश के पशुधन का परिचय पाने के अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार के घरेलू पालतू पशुओं की आदतों और आवश्यकताओं के बारे में सही जानकारी पाने और उनकी उत्पादक क्षमता को सुधारने के लिए जरूरी कदम उठाने में भी मदद मिलेगी।

इस प्रकार की पुस्तक में जहां लेखक ने पशुओं की विभिन्न प्रजातियों के बारे में चर्चा की है, उसे इस विषय की जानकारी के विभिन्न स्रोतों का और उपलब्ध प्रकाशित सामग्री का अनिवार्यत: सहारा लेना पड़ा है। उन सभी का कृतज्ञतापूर्वक पुस्तक के अंत में ग्रंथ सूची में उल्लेख किया गया है। ग्रंथ सूची से पाठक को उस विषय के, जिसमें उसकी विशेष रुचि हो, किसी विशेष पक्ष पर और विस्तृत जानकारी प्राप्त करने में भी सहायता मिलेगी। लेखक विभिन्न स्रोतों से प्राप्त फोटोग्राफों और व्याख्यात्मक सामग्री के उपयोग की अनुमति के लिए भी आभारी है।

नयी दिल्ली **हरबंस सिंह**
13 अप्रैल, 1986

मूल अंग्रेजी के चतुर्थ संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का चतुर्थ संस्करण उपलब्ध नवीनतम आंकड़ों के आधार पर संशोधित किया गया है। यह पुस्तक पाठकों को भारत-देश और लोग के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी देने की दिशा में सतत प्रयत्नशील है।

इस पुस्तक के लेखक, डा० हरबंस सिंह, चूंकि अब हमारे बीच नहीं रहे, अतः मैं इस पुस्तक में उपलब्ध जानकारी को आसान रूप में पाठकों तक पहुंचाने का प्रयत्न करता रहूंगा।

नयी दिल्ली
13 अगस्त, 1992

बी.पी.एस. पुरी

1. ढोर

परिचय

मानव सभ्यता के आरम्भ में ही ढोरों को पालतू बना लिया गया था। युगों तक वे मानव की पूजा की वस्तु और पौराणिक गाथाओं के केन्द्रबिन्दु बने रहे। मिस्र और भारत में अनेक गुफाओं की दीवारों पर अंकित अथवा उत्कीर्ण चित्रों में ढोरों को भारवाही पशुओं के रूप में चित्रित किया गया है। मोहेनजोदड़ो तथा हड़प्पा में की गयी खुदाइयों से यह संकेत मिलता है कि 5 हजार वर्ष पूर्व भी भारत में ढोरों का इस्तेमाल होता था। सीजर ने अपने लेखों में जिस महान वृषभ (आरोकस) का उल्लेख किया है, उसे आधुनिक डेरी - नस्लों के सांडों का पुरखा माना जाता है।

भारत विश्व के उन गिने चुने देशों में से है जहां भैंस पालतू पशु के रूप में पायी जाती है। चीन, थाईलैंड, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, नेपाल, मयांमार, बर्मा और फिलिपीन अन्य देश हैं जहां भैंसें उल्लेखनीय संख्या में पायी जाती हैं। भारत में सामान्यत: पायी जाने वाली भैंसें यूरोपीय देशों में नहीं मिलतीं। अमेरिकी भैंसा तो वस्तुत: जंगली भैंसा है। जंगली भैंसे आमतौर पर दलदलों के निकटवर्ती घास वाले जंगलों में पाए जाते हैं। जंगली और पालतू भैंस में अन्तर यह होता है कि पालतू भैंस का शरीर और उसके सींग अपेक्षतया छोटे होते हैं। भैंस औसतन गाय से तीन गुना दूध देती है। भैंस के दूध में गाय के दूध की अपेक्षा 50 प्रतिशत अधिक वसा होती है। भैंसा एक शक्तिशाली जानवर है। यह चलता तो धीमी गति से है परन्तु भारी वजन काफी अधिक दूरी तक खींच सकता है।

भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में ढोर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। कृषि से सम्बन्धित कार्यों में चालन - शक्ति का मुख्य स्त्रोत बैल हैं यद्यपि अब उनका स्थान मशीनें लेती जा रही हैं। बहुत से लोगों के लिए दूध ही जानवर प्रोटीन का मुख्य स्त्रोत है। खाद देकर ढोर खेतों की धरती की शक्ति पूर्ति करते हैं, और ढोरों के मर जाने के बाद उनसे चाम और खाल प्राप्त होती है। भूमि के बाद ढोर ही किसान का सबसे बड़ा धन हैं। ढोर उसके कई तरह के काम आते हैं। हल चलाने, पटेला फेरने, अनाज के दानों व भूसे को अलग करने, फसल काटने, पानी खींचने तथा अनाज को मण्डी तक ले जाने के लिए किसान उनका इस्तेमाल करता है। अनुमान है कि हमारे देश के बैल प्रतिवर्ष, कुल मिलाकर, 1 अरब 20 करोड़ घण्टे हल चलाने तथा कृषि सम्बन्धी अन्य कार्यों पर व्यय करते हैं।

भारत में हाल के वर्षों में यह प्रवृति देखने में आई है कि सड़क परिवहन के लिए धीरे धीरे बैलों का स्थान यान्त्रिक साधन लेते जा रहे हैं। परंतु खेती के लिए किसानों के पास छोटे खेतों का होना, कृषि के अतिरिक्त किसी अन्य रोजगार का सुलभ न होना तथा ईंधन की कमी आदि कई ऐसे कारण हैं, जिनसे बैल लगातार भारतीय कृषि में अपनी अहम् भूमिका निभा रहे हैं।

भारत में 1987-88 में 455 लाख टन दुग्ध का उत्पादन हुआ। अधिकतम मात्रा, अर्थात

81 लाख 36 हजार टन दुग्ध का उत्पादन उत्तर प्रदेश में तथा 43 लाख 12 हजार टन पंजाब में, 40 लाख टन राजस्थान में, 32 लाख 20 हजार टन मध्य प्रदेश में, 29 लाख 97 हजार टन गुजरात में, 2.98 करोड़ टन आंध्र प्रदेश में हुआ। हरियाणा, कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु अन्य प्रमुख दुग्ध उत्पादक राज्य हैं। 1991-92 में दुग्ध उत्पादन का औसत 545 लाख टन है। भारत के दुग्ध उत्पादन में सन् 2000 तक 50 प्रतिशत तक की वृद्धि किए जाने का प्रावधान है।

भारत में, 1982 की पशुधन गणना के अनुसार 2,622 लाख 30 हजार ढोर थे जिनमें 697 लाख 80 हजार भैंसें और उनकी संतति भी थीं। इससे पता लगा कि 1977 की तुलना में गायों, बैलों और बछड़ों की संख्या में 6.83 प्रतिशत और भैंसों और उनकी संतति की संख्या में 12.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। तीन वर्ष से अधिक आयु की 586 लाख 80 हजार गायें, 323 लाख 90 हजार भैंसें थीं जिनमें से 265 लाख 90 हजार गायें और 179 लाख 90 हजार भैंसें दुधारू थीं।

राज्यवार आंध्रप्रदेश में 132 लाख 20 हजार, असम में 67 लाख 50 हजार, बिहार में 162 लाख 10 हजार, गुजरात में 69 लाख 90 हजार, हरियाणा में 23 लाख 40 हजार, हिमाचल प्रदेश में 21 लाख 70 हजार, जम्मू और कश्मीर में 23 लाख 30 हजार, कर्नाटक में 113 लाख, मध्य प्रदेश में 271 लाख 70 हजार, महाराष्ट्र में 161 लाख 60 हजार, उड़ीसा में 129 लाख 30 हजार, पंजाब में 32 लाख 60 हजार, राजस्थान में 135 लाख, तमिलनाडु में 103 लाख 70 हजार, उत्तर प्रदेश में 261 लाख 50 हजार और पश्चिमी बंगाल में 156 लाख 60 हजार ढोर थे।

भैंसों की संख्या आंध्र प्रदेश में 87 लाख, असम में 5 लाख 60 हजार, बिहार में 67 लाख 20 हजार, गुजरात में 44 लाख 40 हजार, हरियाणा में 33 लाख 70 हजार, हिमाचल प्रदेश में 6 लाख 20 हजार, जम्मू और कश्मीर में 5 लाख 60 हजार, कर्नाटक में 36 लाख 50 हजार, केरल में 4 लाख 10 हजार, मध्य प्रदेश में 64 लाख 40 हजार, महाराष्ट्र में 39 लाख 70 हजार, उड़ीसा में 13 लाख 30 हजार, पंजाब में 45 लाख 90 हजार, राजस्थान में 60 लाख 40 हजार, तमिलनाडु में 32 लाख 10 हजार, उत्तर प्रदेश में 157 लाख 90 हजार और पश्चिमी बंगाल में 9 लाख 90 हजार थी।

ढोरों की प्रमुख नस्लें

विश्व में ढोरों की नस्लों की संख्या इतनी अधिक है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। यूरोप में 40 से 50 तक भिन्न नस्लें हैं। केवल ग्रेट ब्रिटेन में ही विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए 11 विभिन्न प्रकार की नस्लों का विकास किया गया है।

भारत में अधिकतर ढोरों की नस्लों का स्पष्ट रूप से तो पता नहीं चलता। परन्तु ढोरों की 26 और भैंसों की 6 सुस्पष्ट नस्लें भारत में विद्यमान हैं। इन नस्लों में पशु देश के विभिन्न स्थानों पर पाये जाते हैं। मोटे तौर पर इनका दुधारू, भारवाही तथा इन दोनों कामों में आनेवाली मिश्रित नस्लों में वर्गीकरण किया जा सकता है। मिश्रित नस्ल की भैंसें काफी अच्छी मात्रा

में दूध देती हैं और बैल भारवहन के लिए उपयुक्त होते हैं। **लाल सिन्धी, साहीवाल,** और **थरपारकर** नस्लों का मूल प्रदेश तो पाकिस्तान है परन्तु इन नस्लों के जानवरों के अनेक रेवड़ों का आजकल भारत में भी पालन किया जा रहा है।

अमृतमहल : यह मैसूर राज्य की विशिष्ट भारवाही नस्ल है। इस नस्ल के ढोर बड़े तेजमिजाज के और सक्रिय होते हैं। उनकी सहन शक्ति की भी बड़ी ख्याति है। इस नस्ल के बैल दुलकी चाल पर काम करने तथा शीघ्र परिवहन के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं। गायें सामान्यत: कम मात्रा में दूध देती हैं।

अमृतमहल नस्ल के जानवरों का सुन्दर आकार और संकीर्ण सिर होता है। माथे पर गहरी रेखाएं पड़ी होती हैं। आंखें चमकदार और कभी कभी रक्तवर्ण होती हैं। पेट लम्बा और अच्छा गोल होता है। नाभि पल्ला काफी सिकुड़ा होता है। टांगें मध्यम लम्बाई की और ठीक अनुपात में होती हैं। खुर कठोर, काले तथा संकीर्ण विदरवाले होते हैं। दुम बढ़िया और मध्यम आकार की होती है। इस नस्ल में पशुओं का रंग प्राय: सफेद होता है। कभी कभी इनका धूसर रंग भी देखने को मिलता है।

बछौर : यह मध्यम दर्जे की भारवाही नस्ल है। इस नस्ल के ढोर बिहार में सीतामढ़ी जिले में पाये जाते हैं। खुराक पर्याप्त न मिलने पर भी इस नस्ल के पशु फल फूल पर पलते हैं। बैल अच्छा काम देते हैं। गायों से दूध कम मात्रा में प्राप्त होता है।

इस नस्ल की मुख्य विशिष्टताएं हैं: मध्यम आकार का सिर, आगे की तरफ व ऊपर की ओर मुड़े मोटे सींग, झूलती झालर, सुघड़ शरीर, छोटा सिकुड़ा शिश्नच्छद, मजबूत व सुघड़ टांगें और काले गुच्छेवाली मोटी तथा छोटी दुम। इस नस्ल के पशुओं का सामान्य रंग धूसर होता है।

बड़गुर : मद्रास राज्य के कोयमुत्तूर जिले की बड़गुर पहाड़ियां इस नस्ल का मूल प्रदेश हैं। इस नस्ल के पशु हल्लीकार ढोरों से बहुत मिलते जुलते हैं। इस नस्ल के पशु छोटे, सुघड़ एवं आकर्षक होते हैं। उनका मिजाज तेज होता है और उन्हें प्रशिक्षित करना बड़ा कठिन होता है। उनकी सहन शक्ति और तेज चाल प्रसिद्ध है। गायें कम मात्रा में दूध देती हैं।

इस नस्ल के पशुओं का सिर लम्बा, माथा थोड़ा उभरा, सींगों की जड़ों के मध्य गहरी नालियां, जड़ पर निकट से निकलनेवाले लम्बे तथा नुकीले पीछे और ऊपर की ओर मुड़े सींग, तेज आंखें, सुघड़ शरीर, काफी हल्का शिश्नच्छद, छोटी तथा कठोर खुरोंवाली टांगें और सिरे पर नुकीली होती छोटी दुम। हवाना अविकसित होता है तथा थन छोटे होते हैं। शरीर का रंग सामान्यत: लाल व सफेद और कभी कभी धूसर भी होता है।

डांगी : यह मध्यम आकार का पशु होता है। इसका मूल स्थान अहमदनगर जिले का अकोला ताल्लुका, नासिक के घाट, भूतपूर्व बड़ौदा तथा डांग रियासतों के ठाणा और कोलाबा जिले हैं। यह जानवर कठोरता सहने के अभ्यस्त तथा अधिक वर्षावाले प्रदेशों में खूब फलते फूलते हैं। चावल के खेतों में काम के लिए ये बैल विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं। गायें कम मात्रा में दूध देती हैं।

इस नस्ल की विशिष्टताएं हैं: छोटा सिर, उभरा माथा, लम्बा चेहरा, छोटे व मोटे सींग,

लम्बा गहरा शरीर, छोटी व मजबूत टांगें तथा शक्तिशाली पुट्ठे। इस नस्ल के पशुओं का रंग सामान्यत: लाल या भूरा अथवा काला और सफेद होता है।

देवनी : यह मध्यम आकार की नस्ल है। इनका मूल स्थान आन्ध्र प्रदेश के उत्तर - पश्चिमी और पश्चिमी भाग हैं। ये पशु **गिर** नस्ल के पशुओं से बहुत मिलते जुलते हैं।

देवनी नस्ल के पशुओं का मध्यम दर्जे का सिर, कुछ उठा हुआ माथा, ढुलकते कान, ऊपर तथा पीछे की ओर मुड़े मोटे सींग, वेज - आकार का पेट, लम्बी नुकीली होती दुम, सुघड़ तथा मध्यम आकार का हवाना और सुन्दर थन। इन पशुओं के रंग भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु काले और सफेद तथा लाल और सफेद रंग ही इस नस्ल के पशुओं में अधिकतर पाया जाता है।

गावलाव : दो काम आनेवाली यह नस्ल मध्यप्रदेश के वर्धा और छिन्दवाड़ा जिलों में पायी जाती है।

इस नस्ल की मुख्य विशिष्टताएं हैं : लम्बा संकरा चेहरा, छोटे ठूंठवाले सींग, छोटे कान, लम्बा और संकीर्ण शरीर, छोटे मांसपेशियों वाले अंग, सामान्य विकसित शिश्नच्छद और छोटी दुम। गायों का रंग प्राय: सफेद होता है और बैलों का रंग गर्दन, कूबड़ और पुट्ठों पर धूसर होता है।

गिर : यह मध्यम आकार का जानवर है। ये दक्षिण काठियावाड़ और जूनागढ़ के गिर जंगलों में पाये जाते हैं। ये पश्चिमी राजस्थान, बड़ौदा और महाराष्ट्र के उत्तरी भागों में पाये जाते हैं। इस नस्ल की गायें अच्छी मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों का सिर बड़ा, माथा खूब उभरा, चेहरा संकरा, कान लम्बे व ढलकते हुए तथा लिपटे पत्ते के समान जिनके सिरों पर खांचा होता है। सींगों की मोटाई मध्यम दर्जे की होती है। वे पीछे और ऊपर की ओर मुड़े होते हैं तथा आगे की ओर बढ़े होते हैं। उनके सिरे भीतर की ओर सर्पिल आकार के होते हैं। इस नस्ल के पशुओं का पेट लम्बा, गहरा और अच्छा गोल, टांगें ठीक अनुपात में तथा मजबूती से लगी होती हैं। हवाना अच्छे आकार का होता है और उसमें थन ठीक तरह जमे होते हैं। गिर ढोरों के रंग कई होते हैं परन्तु प्राय: लाल, काला और लाल, सफेद और लाल, अथवा धब्बेदार लाल व सफेद होता है।

हल्लीकार : इस नस्ल के ढोर मैसूर राज्य के हासन और तुमकुर जिलों में पाये जाते हैं। यह दक्षिण भारत की सुविख्यात भारवाही नस्ल है। सड़कों व खेतों, दोनों ही स्थानों, पर काम के लिए इस नस्ल के पशु उपयुक्त हैं। गायें कम मात्रा में दूध देती हैं।

इस नस्ल के जानवरों का सिर लम्बा होता है और माथा उभरा होता है। माथे पर मध्य में रेखाएं होती हैं। सींग पास पास और सिर से सीधे उठते हैं। गर्दन की दोनों तरफ वे बड़े भव्य झुकाव में पीछे की ओर चलते हैं और फिर वक्र होकर ऊपर की ओर चले जाते हैं। सिरों पर सींग नुकीले होते हैं। नाभिपट्ट मुड़ा हुआ, शरीर लम्बा और गठा, टांगें हल्की और लम्बी तथा दुम बढ़िया होती है। हवाना छोटा और सुगठित होता है। इस नस्ल के जानवरों का रंग काला अथवा हल्का धूसर होता है। चेहरे तथा झालर के चारों तरफ सफेद धब्बे होते हैं।

हरियाणा : यह भी दो काम आनेवाली नस्ल है। यह नस्ल रोहतक, करनाल, हिसार और हरियाणा के गुड़गांव जिलों, दिल्ली के केन्द्रशासित प्रदेश और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मिलती है। बैल शक्तिशाली होते हैं और वे सड़क परिवहन के लिए और तेजी से जुताई करने के लिए विशेष उपयुक्त रहते हैं। गायें अच्छी मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों का सिर हल्का तथा लम्बा व चेहरा पतला होता है। सींग छोटे और कुछ कुछ अनुप्रस्थ होते हैं। बैलों के सींग गायों के सींग से अधिक लम्बे होते हैं और भीतर की तरफ तथा ऊपर की तरफ उनमें घुमाव होते हैं। पेट लम्बा और सुघड़ होता है। टांगें लम्बी और मजबूत तथा सुन्दर खुरोंवाली होती हैं। दुम बढ़िया और छोटी होती है। गायों में हवाना खूब विकसित होता है और उसके थन खूब उभरे होते हैं। ये पशु प्राय: सफेद और हल्के धूसर रंग के होते हैं।

कांगेयम : यह मध्यम आकार की भारवाही नस्ल है। इसका मूल स्थान मद्रास राज्य का कोयमुत्तूर का दक्षिण - पूर्वी ताल्लुका है। बैल मजबूत तथा चुस्त होते हैं। वे कठिन जुताई और सड़क परिवहन के लिए उपयुक्त होते हैं। गायें कम मात्रा में दूध देती हैं।

कांगेयम नस्ल के जानवरों का सिर छोटा तथा माथा चौड़ा होता है। सींग बाहर से भीतर की ओर गोलाई में बढ़ते हुए सिरों के निकट वृत्त सा बन जाते हैं। पेट सुघड़ और मध्यम आकार का होता है। टांगें छोटी, शिश्नच्छद छोटा और दुम मध्यम लम्बाई की होती है। गायों का हवाना मध्यम आकार का और छोटे थनोंवाला होता है। इनका रंग प्राय: सफेद अथवा धूसर होता है तथा चारों टांगों पर टखनों के ठीक ऊपर तथा घुटनों पर काले चिन्ह होते हैं। जन्म के समय बछड़े लाल रंग के होते हैं। चार मास के लगभग उम्र होने पर रंग सफेद बन जाता है।

कंक्रेज : ढोरों की अत्यन्त वजनदार और सर्वाधिक शक्तिशाली नस्लों में से यह एक है। यह नस्ल कच्छ के रण के दक्षिण - पूर्व में डीसा से लेकर पश्चिम में पुरानी राधापुर रियासत के सिरे तक पायी जाती है। बैल बड़े तेज और चुस्त होते हैं। मजबूत बैल, हल चलाने और गाड़ी चलाने, दोनों कार्यों के लिए उपयुक्त रहते हैं। गायें प्राय : अच्छी मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों का चेहरा पतला और माथा चौड़ा होता है। माथा कुछ कुछ खोखला होता है। आंखें बड़ी बड़ी और पलकों के ऊपर झुर्रियां होती हैं। सींग मोटे, सममित और बाहर की तरफ निकले होते हैं। वे ऊपर की ओर जाकर भीतर की ओर मुड़े होते हैं। उनका नुकीला सिरा पीछे की ओर मुड़ा होता है। पेट लम्बा, गहरा, सुघड़ होता है। टांगें मजबूत और सीधी होती हैं और खुर कठोर होते हैं। हवाना मध्यम आकार का और सुन्दर होता है। इन ढोरों का रंग प्राय: चांदी के रंग का अथवा लौह धूसर होता है। मादा ढोरों का रंग प्राय: नर ढोरों की तुलना में हल्का होता है। नवजात बछड़ों में चांद प्राय: लाल रंग की होती है। छ: मास की उम्र के लगभग यह लाल रंग लुप्त हो जाता है।

केंकथा (केमवरीय) : इस नस्ल के जानवर बुन्देलखण्ड तथा उत्तरप्रदेश के बांदा जिले की केन नदी के साथ वाले प्रदेश में पाये जाते हैं। भूतपूर्व विन्ध्यप्रदेश के पन्ना, बीजागढ़ और चरखारी जिलों में भी इस नस्ल के ढोर मिलते हैं। हल्के भारवहन के लिए इस नस्ल के बैल उपयुक्त रहते हैं। गायें कम दूध देती हैं।

इस नस्ल की प्रमुख विशेषता है: छोटा सिर, चौड़ा माथा, मजबूत व नोकदार सींग जो कि चांद से आगे की ओर निकले रहते हैं। इस नस्ल के पशुओं का शरीर गहरा और सुगठित, शिश्नच्छद मध्यम आकार का, अंग छोटे तथा मजबूत और दुम अच्छी होती है। इन जानवरों का रंग प्राय: धूसर होता है।

खीरीगढ़ : उत्तरप्रदेश के लखीमपुर खीरी जिले में यह भारवाही नस्ल पायी जाती है। बैल हल्के काम के लिए अच्छे रहते हैं। गायें दूध कम देती हैं।

इस जानवर के विशिष्ट लक्षण हैं: मध्यम आकार का सिर, पतले और बहुत लम्बे ऊपर की ओर मुड़े सींग, चौड़ा और गहरा पेट, हल्के अंग, पतली और लम्बी दुम। इन जानवरों का रंग प्राय: सफेद होता है।

खिल्लारी : यह मध्यम आकार का सुघड़ भारवाही नस्ल का जानवर है। भूतपूर्व बम्बई राज्य के सोलापुर और सातारा जिलों तथा सतपुड़ा पर्वतशृंखला इस नस्ल के मूल स्थान हैं। इस नस्ल के जानवर अमृतमहल नस्ल के जानवरों से मिलते जुलते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि उनका ढांचा अपेक्षतया बड़ा होता है, कन्धे अपेक्षतया स्थूल होते हैं। बैल तेज गतिवाले और शक्तिशाली भारवाही जानवर होते हैं। गायों में दूध कम मात्रा में होता है।

इन जानवरों का सिर बहुत बड़ा होता है तथा माथे के बीच में गहरी रेखाएं होती हैं। इनके सींग लम्बे और नुकीले होते हैं। चांद के ठीक ऊपर की ओर एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। पेट लम्बा और सुगठित, टांगें मजबूत और लम्बी, शिश्नच्छद छोटा और दुम छोटी तथा पतली होती है। इन जानवरों का रंग प्राय: धूसर - सफेद होता है।

कृष्णा घाटी की नस्ल : यह नस्ल भूतपूर्व बम्बई और हैदराबाद राज्यों के दक्षिणी भागों में कृष्णा नदी की घाटी में पायी जाती है। इस नस्ल के ढोर आमतौर पर सोलापुर, मीरज, सांगली, बेलगाम, सातारा और धारवाड़ जिलों में पाये जाते हैं। कपास की काली भूमि में काम करने के लिए इस नस्ल के बैल विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं। गायें अच्छी मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों का सिर छोटा, माथा चौड़ा और सींग मोटे ऊपर एवं बाहर की ओर वक्रता लिये होते हैं। पेट गहरा, टांगें छोटी व मांसपेशियों वाली तथा दुम पतली होती है। दुम लगभग पिछले घुटने को छूती है। इन जानवरों में सामान्यत: धूसरपन लिए सफेद रंग ही देखा जाता है। बैलों के अगले तथा पिछले पुट्ठों का रंग अपेक्षतया गहरा होता है।

मालवी : यह मालवा भूभाग में पायी जानेवाली मध्यम आकार की भारवाही नस्ल है। इस प्रदेश में भूतपूर्व ग्वालियर, इन्दौर और भोपाल रियासतें तथा मध्यभारत के इन स्थानों के निकटवर्ती प्रदेश हैं। भारवहन की क्षमता के कारण ये बैल सुविख्यात हैं। ये विशेष रूप से कपास की काली भूमि में काम करने के लिए प्रसिद्ध हैं। गायें दूध कम मात्रा में देती हैं।

इस नस्ल की विशिष्टताएं हैं: छोटा सिर, खोखला चेहरा, वक्र सींग जो चांद से आगे की ओर बाहर तथा ऊपर की ओर निकले होते हैं। शरीर ठोस और सुगठित, टांगें मजबूत, छोटी और शक्तिशाली होती हैं। दुम लम्बी और लगभग टखने को छू रही होती है। इस नस्ल के जानवरों का सामान्य रंग धूसर होता है तथा कन्धों, गर्दन, कूबड़ व पुट्ठों पर काले धब्बे होते हैं। यह रंग उम्र के साथ बदल जाता है।

मेवाती (कोसी) : इस नस्ल का मूल स्थान तो मथुरा जिले का कोसी प्रदेश तथा भरतपुर और अलवर की भूतपूर्व रियासतें हैं। बैल छोटे होते हैं। वे भारी हल और छकड़े को खींचने के लिए उपयोगी होते हैं। इस नस्ल की गायें पर्याप्त दूध देती हैं।

इन जानवरों का मध्यम आकार का सिर तथा उभरा हुआ माथा होता है। सींग मोटे, ऊपर तथा बाहर की तरफ मुड़कर तब भीतर और पीछे की तरफ मुड़े होते हैं। पेट लम्बा और गहरा होता है। टांगें छोटी और उम्दा होती हैं। दुम पतली और लम्बी व थन मध्यम आकार के होते हैं। सामान्यत: इस नस्ल के जानवरों का रंग सफेद होता है। सिर, गर्दन, कन्धों और पुट्ठों पर हल्का सा काला रंग होता है।

नागौर : राजस्थान के नागौर और जोधपुर जिलों में पायी जाने वाली यह भारवाही नस्ल है। बैल बड़े आकार के शक्तिशाली, चुस्त और गहरी रेत में कठिन भारवहन के काम को कर सकते हैं। उनकी दुलकी चाल भी अच्छी होती है और सड़कों पर तेज काम के लिए भी उन्हें पसन्द किया जाता है। आकार में गायें अपेक्षतया छोटी होती हैं और दूध कम मात्रा में देती हैं।

इस नस्ल के जानवरों की मुख्य विशिष्टता है : छोटा सिर और चपटा माथा। सींग सुविकसित ऊपर बाहर की ओर मुड़े और तब भीतर की ओर मुड़े होते हैं। उनका शरीर लम्बा और टांगें सुगठित तथा मजबूत, शिश्नच्छद मुड़ा हुआ और दुम छोटी होती है। इस नस्ल के ढोरों का सामान्य रंग सफेद होता है।

निमाड़ी : नर्मदा नदी की घाटी में पायी जाने वाली भारवाही नस्ल है। भारवहन के लिए बैलों को बहुत पसन्द किया जाता है। गायें दूध कम मात्रा में देती हैं।

इस नस्ल के जानवरों का सिर लम्बा और माथा उभरा हुआ होता है। सींग मध्यम आकार के ऊपर बाहर की ओर और अन्त में सिरों पर पीछे की ओर मुड़े होते हैं। उनका शरीर लम्बा और गहरा, हवाना सुविकसित तथा शिश्नच्छद कुछ कुछ झूलता हुआ और पुट्ठे मजबूत होते हैं। इन जानवरों का रंग लाल होता है और शरीर के विभिन्न भागों में सफेद रंग के बड़े बड़े चकत्ते होते हैं।

ओंगोल (नेल्लोर): यह नस्ल आन्ध्रप्रदेश के नेल्लोर और गुन्टूर जिलों की है। कृष्णा और गोदावरी के शुष्क ताल्लुकों में भी यह नस्ल पायी जाती है। बैल भारी और शक्तिशाली तथा छकडा खींचने और भारी जुताई के लिए विशेषत: उपयुक्त होते हैं। तेज काम के लिए प्राय: उनका प्रयोग नहीं किया जाता। गायें पर्याप्त मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों की मुख्य विशिष्टताएं हैं: मध्यम आकार का सिर, चौड़ा माथा, छोटे और ठूंठदार सींग जो बाहर की ओर जाकर भीतर मुड़े होते हैं। गहरा पेट, मजबूत टांगें, लम्बी और नुकीली होती दुम। इस नस्ल के जानवरों में सींग भी प्राय: ढीले होते हैं। हवाना मध्यम आकार का और थन बराबर बराबर दूरी पर लगे होते हैं। इस नस्ल के जानवरों का सामान्य रंग सफेद, धूसर अथवा सफेद रंग में कूबड़, गर्दन और पुट्ठों पर काले तथा गहरे धूसर धब्बे होते हैं। छोटी उम्र के बछड़ों का रंग सफेद होता है। उस पर लाली लिये भूरे धब्बे होते हैं। बछडे के लगभग छ: मास के होने पर इन धब्बों का रंग सफेद हो जाता है।

पंवार : यह भारवाही नस्ल है। यह नस्ल उत्तरप्रदेश के पीलीभीत और लखीमपुर खीरी जिलों में पायी जाती है। बैल चुस्त और भारवहन के लिए बहुत ही उपयुक्त होते हैं। गायें कम मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों का सिर स्थूल होता है, चेहरा पतला तथा माथा अवतल होता है। सींग लम्बे, नुकीले व ऊपर की ओर जाते हुए पीछे की ओर मुड़े होते हैं। इनका पेट लम्बा और गहरा, टांगें छोटी और मजबूत, शिश्नच्छद तना हुआ तथा दुम लम्बी और नुकीली होती है। इस नस्ल का सामान्य रंग काला और सफेद होता है।

राठ : यह मध्यम आकार की नस्ल है जो राजस्थान में अलवर जिले के उत्तर और उत्तर -पश्चिमी भागों में पायी जाती है। इस नस्ल के जानवरों का आकार छोटा होता है। उनके पालन में भी अधिक खर्च नहीं होता। बैल सुगठित और चुस्त होते हैं। गायें पर्याप्त मात्रा में दूध देती हैं।

इन जानवरों का सिर चपटा तथा सींग चांद के पार्श्वों से निकलते हुए सिरे पर अन्दर की तरफ मुड़े होते हैं। इनके शरीर की लम्बाई अच्छी होती है। अवयव छोटे और मांसपेशियों वाले होते हैं। शिश्नच्छद छोटा और ऊपर की ओर मुड़ा तथा दुम लम्बी होती है। इन जानवरों का रंग प्राय: धूसर अथवा सफेद होता है।

सिन्धी (लाल सिन्धी) : इस नस्ल का मूल स्थान पश्चिम पाकिस्तान में कराची के निकटवर्ती और उसके उत्तर -पश्चिम क्षेत्र हैं। इसी क्षेत्र के बलूचिस्तान प्रदेश में विशिष्ट प्रकार की विशुद्ध नस्ल पाली जाती है। सिन्धु नदी के पश्चिमी तट के निकटवर्ती विशाल क्षेत्र में यही नस्ल मिलती है। मैसूर, मद्रास, केरल, उड़ीसा और पंजाब में भी इस नस्ल के जानवरों के रेवड़ पाये जाते हैं। प्राकृतिक आवास से बाहर रहने के लिए अपने को ढाल सकने की शक्ति इन जानवरों में बहुत होती है। गायें अच्छी मात्रा में दूध देती हैं। बैल छोटे आकार के होते हैं और उन्हें हल्के काम के लिए इस्तेमाल किया जाता है। गायें काफी अधिक मात्रा में दूध देती हैं।

सिन्धी नस्ल के जानवरों का आकार बड़ा और माथा चौड़ा होता है। उनके सींग छोटे और मोटे होते हैं। सींग चांद के पार्श्वों से निकलते हैं और ऊपर की ओर जाते हुए आगे तथा भीतर की ओर झुके होते हैं। सींगों के सिरे कुन्द होते हैं। पेट उनका लम्बा, गहरा और वेजनुमा होता है। उनकी टांगें छोटी और दुम लम्बी होती है। इनका हवाना बड़ा तथा थन मध्यम आकार के होते हैं। इस नस्ल के जानवरों का रंग सदैव लाल होता है, परन्तु कभी कभी ऐसे जानवर भी इस नस्ल में पाये जाते हैं जिन पर सफेद धब्बे होते हैं।

साहीवाल (मौण्टगुमरी) : यह मध्यम आकार का जानवर है। इस नस्ल के जानवर अधिक संख्या में पश्चिम पाकिस्तान के मध्य व दक्षिणी शुष्क भागों में रावी नदी के निकट, विशेषत: मौण्टगुमरी जिले में पाले जाते हैं। पंजाब के अधिकतर बड़े नगरों में भी इस नस्ल के जानवर पाले जाते हैं। पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार और दिल्ली में भी इस नस्ल से निकली नस्लों के जानवर पाये जाते हैं। आर्द्र जलवायु में जानवर फलते फूलते नहीं। बैल सुस्त और आलसी होते हैं। गायें अच्छी मात्रा में दूध देती हैं।

इस नस्ल की मुख्य विशिष्टताएं हैं: लम्बा सिर और मध्यम आकार का माथा, सींग छोटे और मोटे तथा चांद के पार्श्वों से निकलते हैं। पेट वेजनुमा तथा उदर के नीचे नाभि स्थान पर ढीली चमड़ी के कारण ढीलाढाला होता है। पीठ लम्बी होती है और स्कन्ध प्रदेश से अंकुश हड्डी तक उठान होती है। अंकुश से अपलास्थित (पिनबोन) तक ढलान होती है। टांगें छोटी होती हैं। हवाना सुविकसित होता है और बड़े थनों के कारण पीछे से कुछ आगे की ओर हलका होता है। साहीवाल नस्ल के जानवरों का रंग प्राय: लाल अथवा हल्का लाल होता है। कुछ जानवरों में सफेद रंग के धब्बे भी पाये जाते हैं।

सिरी : यह नस्ल दार्जिलिंग, भूटान और सिक्किम के पहाड़ी प्रदेश में पायी जाती है। इस नस्ल के जानवरों की खाल मोटी होती है जो कठोर शीत और वर्षा से इनका बचाव करती है। बैल बड़े आकार के होते हैं और पहाड़ी सड़कों पर भारी सामान खींचने के लिए विशेषत: उपयुक्त रहते हैं। मैदानी इलाकों में ये जानवर अच्छा काम नहीं देते।

इस नस्ल की मुख्य विशिष्टताएं हैं: छोटा सिर, चपटा माथा, आगे की ओर तथा कुछ ऊपर की ओर झुके नुकीले सींग। शरीर उनका बड़ा तथा ठोस, टांगें छोटी और मजबूत तथा दुम छोटी होती है। सामान्यत: इस नस्ल के जानवरों का रंग काला व सफेद अथवा लाल और सफेद होता है।

थरपारकार : मध्यम आकार की दोनों काम आनेवाली नस्ल है। पश्चिम पाकिस्तान का शुष्क और रेगिस्तानी क्षेत्र का थरपारकार जिला ही इस नस्ल का मूल स्थान है। इस नस्ल के जानवरों का रंग भी लाल होता है। भारत के अनेक भागों में विशेष रूप से जोधपुर, कच्छ और जैसलमेर के क्षेत्रों के आसपास भी इस नस्ल के जानवरों का पालन होता है। इस नस्ल की गायों की दूध देने की क्षमता अच्छी होती है। बैल गाड़ी खींचने और हल चलाने के लिए समान रूप से उपयुक्त रहते हैं।

इस नस्ल के जानवरों का सिर मध्यम आकार का और माथा चौड़ा होता है। सींग काफी दूर दूर होते हैं। वे ऊपर उठते हुए बाहर की ओर चांद की रेखा के साथ साथ मुड़े होते हैं। वे मध्यम लम्बाई के होते हैं। जड़ों पर सींग काफी मोटे होते हैं। सींगों के सिरे नुकीले नहीं होते। पेट सुगठित और वेजनुमा होता है। टांगें छोटी तथा दुम लम्बी और पतली होती है। हवाना बड़ा और सुविकसित होता है। थन भी बड़े बड़े होते हैं। इस नस्ल का रंग सामान्यत: सफेद अथवा धूसर होता है।

जाफराबादी : भैंसें काठियावाड़ के गिर वनों में विशेषत: जाफराबाद की ओर पड़ने वाले क्षेत्रों में पाली जाती हैं। ये जानवर दूध बहुत अधिक मात्रा में देते हैं। एक एक जानवर से **प्रतिदिन 15 से 20 लिटर** दूध प्राप्त किया गया है और दूध में वसा की मात्रा भी काफी होती है।

इस नस्ल की विशिष्टताएं हैं: भारी सिर तथा उभरा हुआ माथा, चौड़े और चपटे सींग जो गर्दन के दोनों पार्श्वों के साथ साथ लुढ़कते हुए सिरों के निकट ढीले घुमाव के साथ ऊपर की ओर मुड़े होते हैं। इन जानवरों का रंग प्राय: काला होता है। उनके चेहरे तथा टांगों पर सफेद धब्बे होते हैं।

मेहसाणा : भैंसों की यह नस्ल बड़ौदा और निकटवर्ती क्षेत्रों में मिलती है। इन जानवरों का आकार मध्यम होता है। दूध तथा घी उत्पादन के लिए इन्हें आर्थिक दृष्टि से लाभकर समझा जाता है। शीघ्र परिपक्व हो जाने, दूध देने में निरन्तरता और प्रजनन की नियमितता के लिए ये जानवर सुविख्यात हैं।

इन जानवरों का सिर भारी, चेहरा लम्बा, सींग मोटे तथा ढीले कुण्डलों वाले होते हैं। शरीर लम्बा व वेजनुमा और हल्के अवयवों वाला होता है। इनका हवाना सुविकसित होता है। इस नस्ल के जानवरों का रंग काला होता है। इनके चेहरे, टांगों तथा दुम के सिरे पर सफेद चिह्न होते हैं।

मुर्रा : इस नस्ल की भैंसें दक्षिणी पंजाब तथा केन्द्रशासित प्रदेश दिल्ली में पाली जाती हैं। रोहतक, हिसार, जीन्द, नाभा और पंजाब का पटियाला जिला इस नस्ल के श्रेष्ठतम प्रजनन प्रदेश हैं। ये जानवर दूध तथा घी उत्पादन के लिए विख्यात हैं। भारत के अनेक भागों में इस नस्ल को प्रचलित किया गया है। दूध की अवधि में इस नस्ल के जानवरों में औसतन **1,500 से 2,000 लिटर दूध प्राप्त होता है। इसमें मक्खन-वसा सात प्रतिशत होती है। एक भैंस प्रतिदिन 25 लिटर से 30 लिटर तक दूध देती है।**

इस नस्ल की मुख्य विशिष्टताएं हैं : छोटा और साफ सिर। कुछ उभरा हुआ माथा, छोटे, चपटे और पीछे की ओर मुड़े सींग जो ऊपर जाकर भीतर की ओर वक्र हो सर्पिल हो जाते हैं। शरीर इनका भारी, लम्बा, ठोस और वेजनुमा होता है। हवाना उभरा हुआ और थन बडे होते हैं। जानवरों का रंग काला होता है। दुम के अन्त में बालों के गुच्छे पर सफेद चिह्न होते हैं।

नागपुरी (एलिचपुरी) : इस नस्ल की भैंसें मुख्य रूप से मध्य व दक्षिणी भारत में पायी जाती हैं। भैंसों की चाल धीमी होती है परन्तु भारवहन के लिए आमतौर पर उनका प्रयोग किया जाता है। भैंसें अच्छी मात्रा में दूध देती हैं। दिन के दूध की औसत मात्रा छ: से आठ किलोग्राम तक होती है।

इस नस्ल के जानवरों का सिर लम्बा और माथा चौड़ा होता है। सींग लम्बे, वक्र और गर्दन के दोनों ओर प्राय: कन्धों के पीछे तक गये होते हैं। पेट लम्बा और गहरा होता है और अवयव हल्के, दुम अपेक्षतया छोटी होती है। नागपुरी भैंसों का रंग काला होता है। उनकी टांगों, चेहरे और दुम के सिरों पर सफेद धब्बे होते हैं।

नीली : ये भैंसें पश्चिम पाकिस्तान के मौण्टगुमरी जिले और पंजाब के फीरोजपुर जिले में पायी जाती हैं। इस नस्ल का नाम सतलुज नदी के गहरे पानी के आधार पर पड़ा है। नर भैंसों को प्राय: भारवहन के लिए इस्तेमाल किया जाता है। भैंसें दूध अच्छी मात्रा में देती हैं। 250 दिन की दूध देने की अवधि में औसतन लगभग 1,700 लिटर दूध प्राप्त होता है।

इन जानवरों का माथा उभरा हुआ होता है। आंखों के घेरे उभरे होते हैं। सींग बहुत छोटे तथा कसे कुण्डलवाले होते हैं। चमड़ी कोमल और थोड़े बालों वाली होती है। शरीर लम्बा, ठोस, मध्यम आकार का और वेजनुमा होता है। टांगें छोटी और दुम लम्बी होती है। हवाना

सुविकसित होता है। इस नस्ल के जानवरों का सामान्य रंग काला होता है। इनके माथे, चेहरे, थूथन, टांगों पर तथा दुम के बालगुच्छों पर सफेद चिह्न होते हैं।

सूरती : भैंसों की इस नस्ल का मूल स्थान गुजरात के खेड़ा और बड़ौदा जिले हैं। आणन्द, नडियाद, बल्ससाड, पेटलाद में इस नस्ल के बढ़िया नमूने मिलते हैं। भैंसों से दूध प्राप्त करना आर्थिक दृष्टि से लाभकर रहता है। बम्बई में इस नस्ल की भैंसें भारी संख्या में मंगवायी जाती हैं। अच्छी तरह पाले गये जानवर दूध की अवधि में औसतन 1,700 से 2,000 लिटर दूध देते हैं। बढ़िया जानवर दूध देने की अवधि में 2,500 से 2,700 लिटर दूध देते हैं।

सूरती नस्ल के जानवरों का सिर चौड़ा, माथा उभरा हुआ, सींग चपटे और दरांती के आकार के होते हैं। शरीर वेजनुमा और टांगें मध्यम आकार की होती हैं। इनका हवाना सुविकसित और दुम लम्बी तथा पतली होती है। रंग इनका काला अथवा भूरा होता है। बाल कम होते हैं जिनका रंग रुपहला अथवा भूरा होता है। अच्छे जानवरों के दो सफेद गलपट्ट होते हैं, एक तो जबड़े के चारों ओर दूसरा अधर - वक्ष के चारों ओर।

भारत में इस्तेमाल की जाने वाली विदेशी नस्लें

देसी गायों की दुग्ध उत्पादन क्षमता बढ़ाने के लिए भारत में काफी बड़े पैमाने पर डेरी पशुओं की अनेक विदेशी नस्लें इस्तेमाल की गयी हैं। इनमें से प्रमुख हैं : **जरसी, हालस्टीन -फ्रीजियन, आयरशायर, ब्राउन स्विस** और **गर्नसे**। हाल ही में पश्चिम -जर्मनी से ढोरों की जर्मन **फ्लैकवेह (स्पॉटिड माउण्टेन)** नस्ल का आयात किया गया है। इन सभी विदेशी नस्लों में हालस्टीन -फ्रीजियन और जरसी ढोरों का इस्तेमाल बहुत अधिक किया गया है।

जरसी : इस नस्ल को इंग्लिश चैनल के जरसी द्वीप में विकसित किया गया था। डेरी नस्लों में इस नस्ल का जानवर सबसे छोटा होता है। उससे दूध प्राप्त करना आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक लाभकारी रहता है।

इस नस्ल की गायों की सीधी ऊपरी रेखाएं, सम पिछली पीठ और नुकीले कन्धे होते हैं। जरसी नस्ल के पशुओं का हवाना अगले तथा पिछले भाग के सन्तुलन और आकार की दृष्टि से उम्दा होता है। जरसी नस्ल के जानवरों का रंग हल्के पीले -भूरे से लेकर काले तक हो सकता है। उन पर सफेद धब्बों से लेकर ठोस चिह्नों तक किसी भी प्रकार के चिह्न हो सकते हैं। दुम के बालों का गुल्म काला अथवा सफेद हो सकता है। थूथन काला होता है और उस पर हल्के रंग का वृत्ताकार छल्ला होता है।

भारत में, जरसी नस्ल बड़ी सफल रही है। जरसी नस्ल के सांडों का देसी गायों से मेल कराने पर पहली पीढ़ी में जो गायें प्राप्त हुईं, वे अपनी माताओं की तुलना में ढाई गुना अधिक दूध देती हैं। इन गायों की परिपक्वता की उम्र तथा प्रसवों के बीच की अवधि काफी कम हो गयी है।

हालस्टीन - फ्रीजियन : इस नस्ल का मूल स्थान हालैण्ड है। पनीर बनाने के लिए अधिक मात्रा में दूध प्राप्त करने के लिए इनका विशेष रूप से पालन किया जाता है।

इस नस्ल के जानवर बनावट में मजबूत होते हैं। इनकी खुराक काफी होती है और हवाना

भी बड़ा होता है। इनका सिर लम्बा, तंग और सीधा होता है। इस नस्ल की गायें शान्त और सरलता से काबू में आ सकने वाली होती हैं। हालस्टीन का रंग काला और सफेद होता है। काले और सफेद रंग की मात्रा सफेद रंग पर थोड़े से काले धब्बों से लेकर पूरी की पूरी चमड़ी के काले होने तक हो सकती है। दुम का बालगुच्छ सदा ही सफेद होता है।

भारत में फ्रीजियन सांड और देसी गाय से पैदा वर्णसंकर गाय 'पार्वती' से एक दिन में 46 लिटर दूध प्राप्त किया गया है।

आयरशायर: यह नस्ल स्कॉटलैण्ड में तैयार की गयी थी। डेरी नस्लों में इसे सुन्दरतम नस्ल माना जाता है।

गायों की ऊपरी रेखाएं सीधी, पिछली पीठ सम और हवाना बड़ा होता है। आयरशायर गाय के सींग लम्बे तथा ऊपर की ओर मुड़े होते हैं। इस नस्ल के जानवर बहुत ही चुस्त होते हैं। कभी कभी तो उनके प्रबन्ध में बड़ी कठिनाई आती है। आयरशायर नस्ल के जानवरों का रंग लाल होता है और उस पर सफेद धब्बे होते हैं अथवा रंग सफेद होता है जिस पर लाल धब्बे होते हैं। लाल रंग बहुत हल्का अथवा लगभग काला होता है।

ब्राउन स्विस : स्विट्जरलैण्ड के पर्वतीय प्रदेशों में इस नस्ल का विकास किया गया। स्विट्जरलैण्ड में इन ढोरों को भारवहन के साथ ही दूध तथा मांस के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। इसीलिए ये ढोर अन्य डेरी नस्लों की तरह परिष्कृत नहीं होते।

इस नस्ल की गायों की हड्डियां बड़ी, सिर विशाल तथा कुछ दबा हुआ और चमड़ी मोटी तथा ढीली होती है। इस नस्ल के जानवर शान्त तथा दब्बू होते हैं। इनका प्रबन्ध करना सरल होता है। ये पीलापन लिये भूरे रंग से लेकर काले रंग तक में से किसी भी रंग के हो सकते हैं। इनका थूथन और रीढ़ के साथ की पट्टियां हल्के रंग की होती हैं। नाक, दुम के बालों का गुच्छा और सींगों की नोक काली होती है।

गर्नसे : इस नस्ल को गर्नसे के छोटे से द्वीप में विकसित किया गया। यह द्वीप फ्रांस के तट से कुछ दूरी पर स्थित है। इस नस्ल के जानवर हालस्टीन नस्ल के जानवरों की तुलना में कम परन्तु जरसी नस्ल के जानवरों की तुलना में अधिक मजबूत होते हैं। इस नस्ल की गायों की पिछली पीठ मोटी, खुरदरी और कमर पतली होती है। जरसी नस्ल की गायों की तुलना में इस नस्ल के पशुओं के हवाने कम सममित होते हैं। गर्नसे नस्ल के ढोरों का चेहरा अधिक खोखला परन्तु जरसी नस्ल के ढोरों के चेहरे की तुलना में अधिक लम्बा होता है। इस नस्ल की गायें चुस्त और सतर्क होती हैं। उनका प्रबन्ध करना बड़ा सरल होता है। उनका रंग पीलापन लिये हल्के भूरे से लेकर लाल तक कुछ भी हो सकता है। चेहरे, टांगों और दुम के पीछे के बालगुच्छों और किनारों पर सफेद चिह्न होते हैं।

जर्मन फ्लैकवेह (स्पॉटिड माउण्टेन) : दक्षिण और दक्षिण-पश्चिमी जर्मनी में तथा विशेष रूप से महाद्वीपीय जलवायु में इस नस्ल के ढोर पाले जाते हैं। महाद्वीपीय जलवायु अंगूर-उत्पादन के लिए उपयुक्त जलवायु से लेकर एल्प्स की पर्वतीय जलवायु के बीच कुछ भी हो सकती है। जलवायु के इसी विस्तृत परिसर के कारण इस नस्ल के जानवरों में यूरोपीय तथा अन्य समुद्रपार देशों की जलवायु के मुताबिक अपने को ढाल लेने की क्षमता देखी जाती है। पर्वतीय

क्षेत्रों की कठोर परिस्थितियां इस नस्ल के लिए विशेष अनुकूल होती हैं। भारत में कुछ समय पूर्व ही इस नस्ल को हिमाचलप्रदेश में प्रचालित किया गया है।

ढोरों का प्रजनन व पालन

ढोर की परिपक्वता की उम्र नस्ल, पौष्टिक आहार के स्तर, स्वास्थ्य तथा पर्यावरण की स्थिति पर निर्भर करती है। भारतीय ग्रामों में ढोर प्राय: तीन वर्ष की आयु में परिपक्व हो जाते हैं।

गाय 19 से 21 दिन के बाद एक बार गर्मी में आती है। गर्मी में रहने की अवधि 12 से 24 घण्टे तक है। मेल की सर्वाधिक उपयुक्त अवधि गर्मी के मध्य के समय से लेकर गर्मी के समाप्त होने तक है। गाय के गर्भधारण करने की सामान्य अवधि 280 दिन है। भैंसों में गर्मी हर 21 से 23 दिन की अवधि के बाद आती है। गर्मी की अवधि 18 से 36 घण्टे तक रहती है। मेल के लिए गर्मी की अवधि के मध्य से लेकर अन्त तक के बीच का समय सर्वाधिक उपयुक्त है। भैंस के गर्भधारण की औसत अवधि 310 दिन होती है।

प्रजनन के लिए सांड चुनने में बड़ी सावधानी बरती जानी चाहिए। वैसे तो झुंड के लगभग आधे पशु सांड होते हैं, परन्तु उपलब्ध सांडों में से श्रेष्ठतम का ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए। सांड में अपनी नस्ल की विशेषताएं प्रचुर मात्रा में होनी चाहिएं। जिस गाय व सांड के मेल से वह पैदा हुआ हो उन्हें अधिक दूध देने वाली नस्लों का होना चाहिए। दूध आनुवांशिक विशिष्टता है। बछड़ा इस विशिष्टता को गाय और सांड से ही प्राप्त करता है। इसलिए सांड ऐसे परिवार का होना चाहिए जिसकी गायें अधिक मात्रा में दूध देती हों।

सांड जब तक प्रौढ़ न हो जाये, उसे प्रजनन के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। सांडों को तीन साल की उम्र से पूर्व विशेष परिस्थितियों में ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए। और ऐसा इस्तेमाल भी कम ही किया जाना चाहिए। सामान्यत: एक सांड को प्रजनन योग्य उम्र की 60 से 70 गायों अथवा भैंसों के लिए पर्याप्त समझा जाता है। यदि प्रबन्ध व्यवस्था ठीक हो तो प्रति सांड गायों अथवा भैंसों की संख्या सौ तक हो सकती है।

प्रजनन के लिए चुनी गयी दुधारू गाय अथवा भैंस को स्वस्थ व सशक्त होना चाहिए। उसका शरीर काफी वेजनुमा होना चाहिए। ढांचा तो उसका ढीलाढाला होना चाहिए, परन्तु मोटा होने की प्रवृत्ति उसमें नहीं होनी चाहिए। स्वभाव से उसे शान्त व विनम्र होना चाहिए।

दुधारू जानवर का स्तन तन्त्र और हवाना समुचित होना चाहिए। हवाना काफी बड़ा तथा काफी स्थान वाला होना चाहिए। हवाने जंघाओं के बीच काफी ऊंचाई पर होने चाहिएं तथा नाभि की ओर आगे काफी दूर तक फैले होने चाहिएं। अच्छा हवाना मृदु तथा लचकीला होता है। दूध निकालने के बाद उसे ढलक जाना चाहिए। हवाना निचली तरफ चपटा तथा पीछे की ओर गोल होना चाहिए। थन सुन्दर आकार के एकसम और बड़े होने चाहिएं। थन बेलनाकार व सन्तुलित ढंग से लगे होने चाहिएं। हवाने की दूध-शिराएं संख्या में अधिक और अनेक शाखाओं वाली होनी चाहिएं। हवाना की शिराएं उभरी होने का अर्थ है वहां अधिक रुधिर सम्भरण हो तथा बाल्टी में अधिक दूध।

गाय अथवा भैंस जब गर्मी में होती है तो उसमें बेचैनी के चिह्न प्रकट होते हैं। तब वह

दूध कम देती है तथा भूख भी उसकी कम हो जाती है। उसके प्रजनन छिद्रों में रुधिर -संकुलता हो जाती है एवं सूजन के चिह्न दिखायी देते हैं। उनमें से पारदर्शी श्लेष्मा निकलती है।

उचित खुराक मिलने पर तथा सावधानी बरतने पर प्रसव के सौ दिन बाद गाय पुनः गर्मी में आ जाती है। गाय का मेल कराने में अनावश्यक रूप से देरी नहीं की जानी चाहिए। प्रसव की दो अवधियों में जितना ही कम अन्तर होता है, जानवर दुग्ध उत्पादन के रूप में उतना ही लाभकारी माना जाता है।

गाय को स्वाभाविक रूप से हरा अथवा कृत्रिम गर्भाधान करवाया जा सकता है। कृत्रिम गर्भाधान के अनेक लाभ हैं। सांड को पालने की तुलना में यह उपाय कम व्ययसाध्य है, विशेष रूप से उस अवस्था में जब गायों की संख्या कम हो। श्रेष्ठ सांडों का इस उपाय से अधिक व्यापक पैमाने पर उपयोग सम्भव होता है। सुदूरवर्ती स्थानों के सांडों के वीर्य का भी उपयोग किया जा सकता है। कृत्रिम गर्भाधान से अनेक रोगों का प्रसार भी रोका जा सकता है।

गाभिन गाय अथवा भैंस को प्रसव से छः से आठ सप्ताह पूर्व दुहना बन्द कर देना चाहिए। इस तरह आगामी दुग्धावधि के लिए उसे पर्याप्त विश्राम मिल जाता है। गाभिन गाय को अधिक दूरी तक चलाया नहीं जाना चाहिए और न ही उसे तेज दौड़ाया जाना चाहिए। अन्य जानवरों को गाभिन गाय के सिर भी नहीं मारने दिया जाना चाहिए।

प्रसवकाल के निकट आने के मुख्य लक्षण हैं: भूख कम होना, प्रजननछिद्र की संकुलता तथा सूजन और उसमें से पीले रंग का श्लेष्मक प्रस्त्राव। जानवर बार बार थोड़ी मात्रा में पेशाब करता है। हवाना फूल जाता है। उपलास्थि के पास अवनमन हो जाता है। जानवर एकान्त में रहना चाहता है। वह बार बार दुम हिलाता है और थोड़ी थोड़ी देर बाद उठकर बैठता है। इससे उसकी बेचैनी का पता चलता है।

प्रसव के लिए कोई अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। प्रसव यथासम्भव स्वाभाविक रूप से ही होने देना चाहिए। प्रसव के ठीक पहले और तुरन्त बाद चोकर का गर्म दलिया जानवर को दिया जाना चाहिए। बछड़ा ज्यों ही पैदा हो, गाय या भैंस को बछडा चाटने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। यदि किसी कारणवश वह ऐसा न कर सके तो बछड़े के मुख और नथुनों से श्लेष्मा हटाकर उसे साफ कर दिया जाना चाहिए। बछड़े के शरीर से 2.5 सेण्टीमीटर दूरी पर नाभिरज्जु बांधकर एक सेण्टीमीटर नीचे काट दी जानी चाहिए।

सामान्यतः गाय अथवा भैंस प्रसव के पांच या छः घण्टे बाद जेर फेंकती है। जेर को गिरते ही हटा दिया जाना चाहिए अन्यथा हो सकता है कि जानवर उसे खा ले। आवश्यकता हो तो उसे स्तनपान में भी सहायता दी जानी चाहिए।

अच्छी गाय अथवा भैंस को नौ से दस मास तक दूध देते रहना चाहिए। गाय के दूध में औसतन 3.39 प्रतिशत प्रोटीन, 3.68 प्रतिशत वसा, 4.94 प्रतिशत शर्करा, 0.74 प्रतिशत खनिज और 87.27 प्रतिशत जल होता है। भैंस के दूध में 4.37 प्रतिशत प्रोटीन, 7.65 प्रतिशत वसा, 4.82 प्रतिशत शर्करा, 0.94 प्रतिशत खनिज और 82.22 प्रतिशत जल होता है। दूध देने की अवधि बीतने के साथ साथ दूध में वसा की मात्रा बढ़ती जाती है।

ढोरों की खुराक—ढोर शाकाहारी पशु हैं। वे पौधों तथा वनस्पतियों को मानव उपयोग के लिए दूध, मांस तथा कार्यकारी ऊर्जा में बदल देते हैं। अच्छे उत्पादन के लिए आवश्यक है कि पशु को पर्याप्त मात्रा में सन्तुलित खुराक दी जाये। मात्रा और किस्म, दोनों ही, की दृष्टियों से खुराक को सन्तोषजनक होना चाहिए।

अन्य जुगाली करनेवाले जानवरों की भांति ढोरों के भी चार आमाशय होते हैं। पहले तीन आमाशय तो खुराक की नली की ही शाखा हैं। इनके कारण पशु एक ही बार में काफी मात्रा में खुराक ले लेते हैं जिसे ये मजे में पचाते और चबाते हैं। पहला आमाशय तो ऐसे खाद्य का भण्डार होता है जो छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त होकर लार में मिला होता है। दूसरा आमाशय जलभण्डार के रूप में काम देता है। जब पशु खाना समाप्त कर चुकता है तो खाद्य का ठोस भाग पहले और दूसरे आमाशयों के सिकुड़ने के कारण पुन: मुख में लौट आता है। पुन: चबा लिये जाने तथा बहुत ही अधिक महीन द्रव्य में बदल जाने के बाद यह सीधे ही तीसरे आमाशय में चला जाता है। तीसरे आमाशय में तहों की सहायता से खाद्य मसला जाता है और पिस जाता है। तब यह चौथे आमाशय में चला जाता है जहां पाचन क्रिया में सहायक द्रव्य इस पर अभिक्रिया करते हैं।

ढोरों को खुराक देते समय यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि उन्हें सारे वर्ष सन्तुलित खुराक मिलती रहे। यदि गाय को चारा कुछ समय के लिए कम मात्रा में दिया जाये तो उसे सामान्य उत्पादन की स्थिति में आने में अपेक्षतया अधिक समय लग जाता है। पशु द्वारा उपलब्ध दूध तथा उससे लिये जा रहे काम को ध्यान में रखकर ही यह निश्चित किया जाना चाहिए कि उसके भोजन में अनाज की मात्रा कितनी रहे। खुराक स्वादिष्ट होनी चाहिए तथा उसमें पर्याप्त मात्रा में अच्छी किस्म का मोटा अनाज होना चाहिए। ढोर सदा ही अपनी खुराक में विविधता को पसन्द करते हैं। विभिन्न प्रकार के चारों को मिलाने से अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। खुराक के लिए ऐसे पदार्थों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए जो रोचक हों। ऐसी खुराक से जानवर स्वस्थ रहता है। राशन में जब परिवर्तन किया जा रहा हो तो धीरे धीरे ही किया जाना चाहिए ताकि जानवर उसके अनुसार अपने को ढाल सके। अनाज का राशन मोटा पिसा होना चाहिए और खिलाने से पहले उसे कुछ समय के लिए जल में भिगो लिया जाना चाहिए। इससे उसकी पाचकता बढ़ जाती है।

जहां तक सम्भव हो, दुधारू जानवर को वर्षभर हरा और गूदेदार चारा देते रहना चाहिए। हरा चारा न केवल अत्यधिक स्वादिष्ट और भूख बढ़ाने वाला होता है वरन् इससे दूध की मात्रा में भी वृद्धि होती है। जानवर के लिए विटामिन के स्त्रोत के रूप में भी हरा चारा ही श्रेष्ठतम है। जिन जानवरों को पर्याप्त मात्रा में हरा चारा नहीं दिया जाता, उनके दूध में कुछेक आवश्यक पौष्टिक तत्वों की कमी रहती है। हरा चारा, विशेष रूप से बरसीम, ल्यूसर्न और लोबिया आदि फलियां, दुधारू जानवरों के लिए बहुत उपयुक्त हैं। उनमें प्रोटीन, खनिज तथा केरोटीन होते हैं।

हरे चारे के स्थान पर साइलेज देना सबसे अधिक उपयुक्त रहता है। सूखे की अवधि में भी दुधारू पशु के दूध का उत्पादन अधिक रखने में यह सहायक होता है। साइलेज बड़ा

पौष्टिक पदार्थ है। यह जल्दी से पच भी जाता है। मोटे डण्ठलों वाले पौधों के साइलेज भी पशु खा जाते हैं। उनका प्राय: कुछ भी बेकार नहीं जाता।

औसत दर्जे की गायों को प्रतिदिन चार से पांच किलोग्राम भूसा, 15 से 20 किलोग्राम तक हरा चारा और एक किलोग्राम अनाज मिश्रण की आवश्यकता होती है। भैंस को इससे लगभग डेढ़ गुना चारे की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दुधारू गाय को हर ढाई किलोग्राम दूध के पीछे एक किलोग्राम सान्द्रित मिश्रण दिया जाना चाहिए। भैंस को तो प्रत्येक दो किलोग्राम दूध के पीछे एक किलोग्राम सान्द्रित मिश्रण दिया जाना चाहिए।

गाभिन जानवरों को गर्भावस्था के अन्तिम दो महीनों में लगभग एक किलोग्राम अतिरिक्त अनाज मिश्रण दिया जाना चाहिए। यही समय होता है जबकि वह पशु अपने को आगामी दुग्धावधि के लिए तैयार कर रहा होता है। यदि इस अवधि में उसे उचित तरीके से खुराक नहीं दी जाती तो बाद में आने वाली दुग्धावधि में वह अच्छी मात्रा में दूध नहीं दे पाता। न ही उसका बछड़ा बलवान और स्वस्थ होता है।

सांडों से जब काम लिया जा रहा हो तो उन्हें दो किलोग्राम अनाज का अतिरिक्त राशन दिया जाना चाहिए। मध्यम दर्जे का काम करने वाले बैल को प्रतिदिन तीन किलोग्राम अतिरिक्त अनाज के राशन की आवश्यकता होती है।

चारों की उपलब्धता और उनकी कीमतों पर ही यह निर्भर करेगा कि मिश्रण तैयार करने के लिए किन अनाजों को मिलाया जाये। सामान्यत: अच्छे सान्द्रित मिश्रण में एक भाग पिसा अनाज, दो भाग चोकर या भूसा तथा एक भाग खली होनी चाहिए। 25 प्रतिशत बिनौला, 55 प्रतिशत ज्वार और 20 प्रतिशत चोकर को मिलाकर तैयार किया गया एक किलोग्राम अनाज - राशन ढाई किलोग्राम दूध देने वाली गाय और दो किलोग्राम दूध देने वाली भैंस को खिलाना पर्याप्त रहता है।

नये पैदा हुए बछड़े को मां का पहला दूध, जिसे खीस कहते हैं, पहले तीन या चार दिन दिया जाना चाहिए। यदि यह उपलब्ध न हो तो बछड़े को ऐसा दूध दिया जाना चाहिए जिसमें थोड़ी मात्रा में कैस्टर ऑयल, कॉडलिवर ऑयल और अण्डे की सफेदी मिलायी गई हो। एक मास की उम्र तक तो बछड़े को प्रतिदिन 2.6 लिटर दूध की आवश्यकता होती है। बाद में इसके स्थान पर धीमे धीमे मखनिया दूध देना शुरू किया जाना चाहिए। ऐसा दूध 24 सप्ताह की उम्र तक बछड़े को दिया जाता रहना चाहिए। इसके बाद मखनिया दूध देना बन्द किया जा सकता है। बछड़ा जब दो या तीन सप्ताह का ही होता है तो वह भूसे अथवा कोमल घास को थोड़ा थोड़ा चबाने लगता है। भूसा अच्छी किस्म का होना चाहिए। उसे अनाज मिश्रण भी दिया जा सकता है। अनाज के राशन की मात्रा को धीरे धीरे बढ़ाकर लगभग छ: मास की उम्र तक उसे एक किलोग्राम देना शुरू कर देना चाहिए।

तीस भाग गेहूं का चोकर, बीस भाग जौ, बीस बीस भाग ज्वार और मक्का तथा दस भाग अलसी की खली को मिलाकर बछड़ों के लिए उपयुक्त अनाज - राशन तैयार किया जा सकता है।

सभी वर्गों के बड़ी आयु के ढोरों के लिए अनाज - राशन में प्रतिदिन पचास से साठ ग्राम

नमक मिला दिया जाना चाहिए। छोटी उम्र के बछड़ों के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वे बिना किसी रोकटोक के नमक चाट सकें। यदि ऐसी व्यवस्था सम्भव न हो तो प्रतिदिन उन्हें 25 से 30 ग्राम नमक दिया जाना चाहिए। अधिक मात्रा में दूध देने वाले दुधारू जानवरों के लिए तथा सुधरी नस्ल के बढ़ रहे पशुओं के लिए खनिज तत्व भी आवश्यक हैं। 45 भाग बारीकी से पिसा और विसंक्रमित अस्थिचूर्ण (बोनमील), 10 भाग पिसा चाक, 12 भाग डाई कैल्शियम फॉस्फेट, 30 भाग नमक, आधा भाग लोहे का पीला ऑक्साइड, 2.25 भाग पोटेशियम आयोडाइड, 0.75 भाग सोडियम कार्बोनेट, 0.75 भाग स्टार्च तथा 1.75 भाग सोडियम थियोसल्फेट को मिलाकर खनिज - मिश्रण तैयार किया जा सकता है। हर 100 किलोग्राम खनिज - मिश्रण में 50 ग्राम पिसा हुआ कोबाल्ट क्लोराइड, 250 ग्राम कॉपर सल्फेट (नीला थोथा) और 300 ग्राम मैंगनीज सल्फेट भी मिलाया जाना चाहिए। जब इस खनिज - मिश्रण को प्रति - सौ किलोग्राम अनाज - राशन में दो किलोग्राम के हिसाब से मिलाया जाता है तो न केवल कैल्शियम और फॉस्फोरस आदि प्रमुख तत्वों की कमी के सम्भावित खतरे से बचाव होता है वरन् तांबा, कोबाल्ट, मैंगनीज और आयोडीन आदि विरल तत्वों की कमी का खतरा भी नहीं रहता।

चावल वाले क्षेत्रों में ढोरों के मोटे चारे का मुख्य भाग धान के तिनके होते हैं। धान के तिनकों में पौष्टिक तत्व कम होता है। परन्तु इसमें थोड़ी मात्रा में फलीदार हरे चारे को मिलाकर उसे अधिक स्वादु और अधिक सन्तुलित बनाया जा सकता है

पशुओं को बारीक कटा हुआ चारा खिलाना कम खर्चीला पड़ता है। इससे न केवल चारे को बेकार होने से ही बचाया जा सकता है वरन् इससे जानवर बहुत सी शक्ति बचा लेता है जिससे अधिक दूध प्राप्त होता है। साथ ही जानवर से अधिक काम लेना भी सम्भव होता है।

पाचन व पौष्टिक तत्वों को सोखने तथा बेकार पदार्थों को निकालने आदि में होने वाली शारीरिक क्रियाओं के लिए जल की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। जल ही शरीर के तापमान को नियमित करता है। जानवर ठोस खाद्यान्न के बिना तो काफी देर तक रह सकते हैं परन्तु बिना जल के अधिक देर तक नहीं रह सकते। पूर्ण विकसित ढोर में वजन के आधे भाग के बराबर वजन जल का होता है। दूध का भी 60 से 85 प्रतिशत भाग तो जल ही होता है। इसलिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि जानवर को हर समय पर्याप्त मात्रा में जल उपलब्ध होता रहे। यह मान लेना भूल है कि थनों से दूध चूसने वाले बछड़ों को जल की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनकी मुख्य खुराक तो दूध ही होती है। सामान्य परिस्थितियों में एक दुधारू गाय को प्रतिदिन लगभग 32 लिटर जल की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त प्रति लिटर दूध पर उसे दो लिटर अतिरिक्त जल भी दिया जाना चाहिए। काम में इस्तेमाल किये जाने वाले बैल को प्रतिदिन लगभग 32 लिटर जल की आवश्यकता होती है। काम न कर रहे ढोर को प्रतिदिन 22 लिटर जल की आवश्यकता होती है।

ढोरों का सामान्य प्रबंध

ढोरों से सदैव बड़ी ही नरमी से और दयालुता से व्यवहार किया जाना चाहिए। उन्हें न तो

कभी डराया जाना चाहिए और न ही कभी उत्तेजित किया जाना चाहिए। चारा खिलाने, चराने और दुहने में नियमितता बरतने से दुधारू जानवरों से अधिकतम लाभ प्राप्त होता है।

जानवरों का दुहना

दुहने का ठीक ढंग इस्तेमाल न करने से प्रायः दुधारू जानवर खराब हो जाते हैं। जानवर को बड़ी कोमलता से और बड़ी तेजी से दुहा जाना चाहिए। उसका पूरा दूध निकाल लेना चाहिए। दुहने के लिए पूरे हाथ के इस्तेमाल का अभ्यास किया जाना चाहिए। जानवरों को सूखे हाथों से दुहा जाना चाहिए। दुहते समय थन और हथेली के बीच अंगूठे को नहीं रखा जाना चाहिए। इससे प्रायः थन को हानि पहुंचती है।

दूध में जब कोई गन्द दिखायी न दे तब भी यह आवश्यक नहीं है कि वह साफ है। साफ दूध को तो कृमियों से भी मुक्त होना चाहिए। इन कृमियों से रोग पैदा हो सकते हैं। दूध मनुष्य को होने वाले टाइफायड, डिप्थीरिया, तपेदिक, मरोड़, लोहित ज्वर, पूतिदूषित, गलव्रण (सेप्टिक सोर थ्रोट) आदि अनेक रोगों के जीवाणुओं का वाहक हो सकता है। साफ दूध की तुलना में बिना साफ किया दूध अधिक जल्दी खट्टा हो जाता है। दूध यदि एक बार गन्दा हो जाये तो फिर इसे साफ नहीं किया जा सकता। इसलिए दूध को सभी प्रकार के सन्दूषण से बचाने के लिए बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

ढोर को जिस स्थान पर दुहा जाता हो, उसे सदैव ही साफ रखा जाना चाहिए। जिन बर्तनों में दूध दुहा जाना हो, उन्हें अच्छी तरह से कृमिविहीन किया जाना चाहिए। जानवरों को और विशेष रूप से उसके पिछले पुट्ठों को दुहने से पहले अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए। दुहनेवाले व्यक्ति को खूब साफ होना चाहिए और किसी भी सक्रामक रोग से पीडित नहीं होना चाहिए। दूध की पहली कुछेक धारों को शेष दूध में मिलाया नहीं जाना चाहिए क्योंकि उनमें अधिक जीवाणु होते हैं।

ढोर के शरीर से गिरे बालों को हटाने तथा गन्दगी दूर करने के लिए उसे प्रतिदिन अच्छी तरह खरहरा किया जाना चाहिए। खरहरा करने से ढोर का स्वास्थ्य भी सुधरता है।

बछड़ों से दूध छुड़वाना

अनेक देशों में तो प्रायः जन्म के समय ही बछड़ों को मां का दूध छुड़वा दिया जाता है। बिना बछड़े के दुहना अधिक स्वास्थ्यकर और सफाई वाला है। दूध छुडवा देने से बछडे को अधिक नियन्त्रित रूप से खुराक दी जा सकती है। जिन बछडों का दूध छुड़वा दिया जाता है, उन्हें दूध के स्थान पर अन्य खुराक देकर अपेक्षतया कम खर्च में पाला जा सकता है। बछड़ों से दूध छुड़वा देने से दुहने में भी कम समय लगता है। इससे मालिक सही सही रिकार्ड रख पाता है और गाय को उसके वास्तविक दूध उत्पादन के अनुरूप मात्रा में ही चारा खिलाया जा सकता है। कभी कभी जब बछड़ा मर जाता है तो गाय को दुहने में कठिनाई होती है। यदि बछड़े का दूध छुड़वा दिया गया हो तो ऐसी कठिनाई का सामना नहीं करना पडता।

बछड़े का दूध सफलतापूर्वक छुड़वाने के लिए यह आवश्यक है कि जन्म के समय गाय को बछड़ा देखने न दिया जाये। जिन ढोरों का पहला प्रसव हो, उनसे बछड़ों का दूध छुड़वाना अधिक सरल होता है।

जिस बछड़े का दूध छुड़वाया गया हो, उसको खिलाते समय स्वास्थ्य - सम्बन्धी सावधानियों का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। ऐसे बछड़ों को जो दूध पिलाया जाये, उसे उनके शरीर के तापमान के बराबर तापमान पर गर्म कर लिया जाना चाहिए। प्रारम्भ में बछड़े को बाल्टी से दूध पीने में मदद दी जा सकती है। ऐसा करने के लिए पहले हाथों को बाल्टी में डुबा दिया जाता है और बछड़े को अंगुलियों से दूध चूसने दिया जाता है। तब अंगुलियों को धीरे धीरे बाहर निकाल लिया जाता है। बाल्टी से दूध पीते समय किशोर बछड़ा आमतौर पर सिर मारता है। नवजात बछड़े का तो ऐसा करना सामान्य बात है। वह अपनी माता में दूध नीचे लाने के लिए सिर मारता है। जिस बाल्टी में दूध पिलाया जा रहा हो, उसे अच्छी तरह से पकड़ा जाना चाहिए ताकि दूध उछलकर नीचे न गिरे। बछड़े का मुख धो देना चाहिए और हर बार दूध पिलाने के बाद कुछ समय तक उसके थूथन में कुछ डाल देना चाहिए। ऐसा न करने पर बछड़ों में एक दूसरे को चाटने की आदत पैदा हो जाती है।

ढोरों के सींगों को काटना

ढोरों के आमतौर पर सींग काट दिये जाते हैं, विशेष रूप से ऐसे जानवरों के जो दुग्धालयों में विशाल समूहों में रखे जाते हैं। जिन पशुओं के सींग उतार दिये गये होते हैं, उनकी देखभाल उन पशुओं की तुलना में सरल होती है जिनके सींग उतारे नहीं गये होते। बछड़े जब दो सप्ताह के हो जाएं तो उनके सींग उतारे जा सकते हैं।

सींग काटने के लिए बछड़े को इस तरह बांध दिया जाना चाहिए कि वह आसानी से हिलडुल न सके। सिर के दोनों तरफ के सींगों के मूल स्थान के चारों ओर के बालों को काट देना चाहिए। इन वृत्तों के बाहरी किनारों पर वैसलीन लगायी जानी चाहिए। सींगों के मूल स्थान को थोड़ी सी स्पिरिट से साफ किया जाना चाहिए। एक या दो मिनट के लिए कास्टिक पोटाश की छड़ को गोलाई में रगड़ा जाना चाहिए। इससे वहां पर कुछ कुछ लाल वृत बन जाता है। वहां से रुधिर बहिस्मन्दन को भी टाला जाना चाहिए। सींग उतार लेने के बाद बछड़े को एक या दो दिन तक बांधे रखना चाहिए ताकि पीड़ित अंग को और चोट न लगे।

बछड़ों का बधिया करना

ढोरों की प्रजनन क्षमता को नियन्त्रित करने का सबसे अधिक उपयुक्त तरीका है उन्हें बधिया कर देना। घटिया जाति के सांडों से नस्ल बढ़वाने पर उनकी सन्तानों की आनुवांशिक क्षमता के स्तर में गिरावट आती है। इसलिए संसार में हर कहीं प्रजनन के लिए अनावश्यक घटिया बछड़ों को आमतौर पर बधिया करके ही छंटनी कर दी जाती है। भारत में छंटनी की अन्य विधियां उपलब्ध न होने के कारण सम्भवत: बधिया करना ही एकमात्र ऐसा तरीका है जिससे

उनके निर्बाध प्रजनन को रोका जा सकता है इसके अतिरिक्त बछड़ों को बधिया करके ऐसे हृष्टपुष्ट बैल तैयार किये जा सकते हैं जिनका पालन अधिक सरल होता है। बधिया किये गये जानवर की अधिक आसानी से देखभाल की जा सकती है। उसके आवास का प्रबन्ध करना भी अधिक आसान होता है। छोटी उम्र के बछड़ों को, जिनकी प्रजनन के लिए आवश्यकता नहीं होती, बहुत प्रारम्भ की उम्र में ही बधिया कर देना चाहिए। हर हालत में 15 से 18 मास की उम्र से पहले ही उन्हें बधिया कर देना चाहिए। कभी कभी ढोरों के मालिकों में यह धारणा पायी जाती है कि जल्दी बधिया करवा देने से जानवर की शारीरिक वृद्धि पर असर पड़ता है जिससे बैल छोटे आकार के होते हैं और उनमें श्रम करने की क्षमता कम होती है। परन्तु ऐसी धारणा का कोई आधार नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत देखा यह गया है कि उपयुक्त आयु में बछड़ों को बधिया करवा देने से बैलों की सक्रियता उल्लेखनीय मात्रा में बढ़ जाती है और उनकी देखभाल में भी अधिक आसानी होती है।

जानवर को वर्ष में किसी भी समय बधिया किया जा सकता है, तथापि वर्षा ऋतु में बधिया करना टाला ही जाना चाहिए। जानवर को बधिया करवाने के लिए देश के विभिन्न भागों में अलग अलग समय उपयुक्त माना जाता है। बधिया करने के लिए जो विधियां गांवों में बरती जाती हैं, वे प्राय: अधिक कष्टदायक और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं। सबसे अधिक अच्छा उपाय तो यह है कि बरडिजो बधियाकार को इस्तेमाल किया जाय। बरडिजो बधियाकार से रुधिरहीन और पीड़ारहित आपरेशन किया जा सकता है।

यह आपरेशन करने के लिए जानवर को एक करवट लिटा देना चाहिए और उसकी टांगों को अच्छी तरह बांध देना चाहिए। शुक्र नलिका को मजबूती से पकड़ लेना चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि वह फिसले नहीं। नलिका के प्रत्येक तरफ दो जगह काट देना चाहिए। काटने का दूसरा स्थान पहले स्थान की तुलना में निचले स्तर पर होना चाहिए। इससे अनावश्यक पीड़ा से बचा जा सकता है। बरडिजो को नलिका के बहुत नीचे नहीं रखा जाना चाहिए अन्यथा इससे टेंटुए मसले जा सकते हैं। टेंटुओं की दोनों ओर की नलिका को काटना चाहिए। काटा बड़ी तेजी से और समता से जाना चाहिए। संक्रमण से बचाव के लिए टिंचर आयोडीन को काटे गये स्थान पर लगाया जाना चाहिए।

पश्चिमी देशों में प्राय: नलिका के चारों ओर मजबूत और कसा हुआ रबड़ का छल्ला चढ़ा दिया जाता है। यह छल्ला चिमटियों की सहायता से तभी चढ़ा दिया जाता है जबकि बछड़े की उम्र बहुत कम होती है। यह छल्ला निरन्तर दाब डालता रहता है। टेंटुए जब सोख लिये जाते हैं तो यह छल्ला नीचे गिर जाता है।

भारवाही ढोरों की देखभाल

भारवाही पशुओं से अधिक काम नहीं लिया जाना चाहिए। काम का वितरण ऐसा होना चाहिए कि सभी बैलों के हिस्से बराबर का काम आये। अनाज से भूसी अलग करने का काम लेने अथवा कठोर भूमि पर काम लेने से पहले बैलों के पैरों पर उचित प्रकार से नाल चढ़वा देनी चाहिए अन्यथा पांवों के घायल होने की आशंका रहती है। पहले खुर तैयार किया जाना चाहिए और तब उसमें नाल लगायी जानी चाहिए। नाल को ठीक बैठाने के लिए खुर को किसी

भी हालत में काटा नहीं जाना चाहिए। नाल इस प्रकार की बनायी जानी चाहिए कि वह खुर के प्राकृतिक आकार पर ठीक तरह से बैठ जाये। सड़क पर काम कर रहे जानवरों को महीने में एक बार नाल चढ़वाने की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु खेतों में काम करनेवाले जानवरों को दो या तीन मास में ही एक बार नाल चढ़वाने की जरूरत होती है। नरम खुरोंवाले जानवरों को कठोर खुरोंवाले जानवरों की तुलना में अधिक बार नाल चढ़वाने की आवश्यकता होती है।

अच्छे भारवाही बैल की शक्ल और मिजाज अच्छा होना चाहिए। उसमें स्वास्थ्य और शक्ति दिखाई देनी चाहिए। खड़े होने के समय सिर सीधा रखने वाले और काम के समय पूंछ ऊंची रखने वाले जानवरों को अधिक सतर्क और चुस्त माना जाता है। बैल का कद और आकार बड़ा होना चाहिए। शरीर की लम्बाई से अच्छी चाल का पता चलता है। जानवर को तेजी से बिना रुकावट के और आसानी से चलना चाहिए। गर्दन मांसपेशियों वाली और मजबूत होनी चाहिए। मोटी गर्दन से पता चलता है कि जानवर में भारवहन की क्षमता काफी अधिक है, जबकि पतली और तन्तुओं वाली गर्दन से अधिक चाल होने का पता चलता है। तनी हुई चमड़ी से अधिक संवेदनशीलता और तेज स्वभाव का पता चलता है। पांव कठोर, काले और मोमी होने चाहिएं। पांव के दोनों भागों को सम होना चाहिए। खुर की विदर को तंग होना चाहिए।

ढोर की उम्र निश्चित करना

ढोरों की उम्र उनके दांतों से निश्चित की जा सकती है। ढोरों के ऊपरी जबड़े पर सामने वाला दांत नहीं होता। जन्म के समय बछड़े के निचले जबड़े में दो अस्थायी छेदक अथवा दुग्ध दांत होते हैं। एक सप्ताह की उम्र में चार, दो सप्ताह की उम्र में छ: और चार सप्ताह की उम्र में आठ दुग्ध दांत होते हैं। दो वर्ष की उम्र से स्थायी छेदक दांत पैदा होने शुरू हो जाते हैं। सामान्यत: दो ढाई वर्ष की उम्र में दो स्थायी छेदक दांत होते हैं। लगभग तीन वर्ष की उम्र में चार स्थायी छेदक दांत होते हैं। चार वर्ष की उम्र में छ: और लगभग पांच वर्ष की उम्र में आठ स्थायी छेदक दांत होते हैं।

पांच वर्ष के बाद जानवर की उम्र का निर्णय यह देखकर किया जा सकता है कि उसके दांत कितने घिस गये हैं।

ढोरों की आवास व्यवस्था

ढोरों का उत्पादन स्तर ऊंचा रखने के लिए यह आवश्यक है कि खराब मौसम से उनके बचाव के लिए आवश्यक व्यवस्था की जाये। उन्हें सदा ही आरामदेह स्वास्थ्यकर और हवादार स्थानों में रखा जाना चाहिए। उन स्थानों पर जल की सुविधा तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध होनी चाहिएं। ढोरों के लिए जहां पर शैड बनाया गया हो, वह स्थान आसपास के स्थानों से ऊंचे स्तर पर होना चाहिएं ताकि पानी का निकास अच्छी तरह से हो जाये। ढोरों को रखने के लिए जो शैड बनाये जायें, वे ऐसे होने चाहिएं कि वहां पर जानवरों को चारा खिलाना और

उनकी देखभाल करना सरल हो। हवा जिस दिशा से आती हो, उस दिशा को अच्छी तरह से आरक्षित किया होना चाहिए। जहां तक सम्भव हो सके ढोरों को रखने के शैड मनुष्यों के निवासस्थान से अधिक निकट नहीं होने चाहिएं। शैड अधिक महंगा तो नहीं, परन्तु वह सुविधाजनक और स्वास्थ्यकर अवश्य होना चाहिए।

जानवरों की संख्या को ध्यान में रखकर ही गायों का शैड बनाया जाना चाहिए। यदि ढोर थोड़े हों तो पंक्ति में खड़े होने का स्थान और सामने नांद तथा पीछे एक नाली का होना ही पर्याप्त समझा जाता है।

बछड़ों को अलग अलग रखा जाना चाहिए और उन्हें गायों के पास उसी समय लाया जाना चाहिए जबकि उन्हें दुहना हो। बड़ी उम्र में बछड़ों को मां का दूध पीने वाले बछडों से अलग रखा जाना चाहिए। छ: मास की उम्र के बाद नर और मादा बछड़ों को अलग अलग बाड़ों में रखना चाहिए।

सांडों को रखने के लिए बनाये गये शैड में काफी बड़ा अहाता होना चाहिए जहां पर सांड बिना किसी रुकावट के घूम सकें और व्यायाम कर सकें।

ढोरों को रखने के शैड का फर्श पक्का होना चाहिए। इस दृष्टि से सीमेंट - कंक्रीट सबसे अच्छा पदार्थ है। इससे बने फर्श को प्रतिदिन धोया और साफ किया जा सकता है। फर्श फिसलन वाला नहीं होना चाहिए। मोटी कंक्रीट डालकर अथवा फर्श पर कोई विशेष प्रकार का डिजाइन बनवाकर ऐसा किया जा सकता है।

ढोरों को रखने के शैड में जल के निकास के लिए अच्छी नाली की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है। नाली इतनी चौड़ी होनी चाहिए कि उसमें गोबर और पेशाब समा सके। गोबर को निश्चित अन्तराल के बाद हटाते रहना चाहिए।

यदि सम्भव हो तो ढोरों के पेशाब को नाली के रास्ते सीधे शैड से किसी गड्ढे में डाल देना चाहिए। यदि ऐसा सम्भव न हो तो जानवरों के लिए तिनकों अथवा घासफूस के बिस्तर की व्यवस्था करनी चाहिए। यह घासफूस तरल रूप में निकले मल को भी सोख लेगा। इस मल को गोबर के साथ हटाया जा सकता है और किसी खाद बनाने वाले गड्ढे में दबा दिया जा सकता है।

गांवों में गोबर को सुरक्षित रखने के लिए उसे अन्य कचरे में मिलाकर जमीन पर ढेर लगा दिया जाता है। यह तरीका उचित नहीं। इस तरीके से वर्षा और हवा के कारण खाद में विद्यमान पौधों के लिए पुष्टिकारक तत्व नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह तरीका अस्वास्थ्यकर भी है। उचित तरीका तो यह है कि खाद को गड्ढे में जमा कर दिया जाये। पेशाब भी खाद का महत्वपूर्ण भाग है, उसे भी ठीक प्रकार से संरक्षित कर लिया जाना चाहिए।

सामान्यत: प्रत्येक गाय को लगभग छ: वर्गमीटर स्थान की आवश्यकता होती है। भैंस को अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। यदि ढोरों की संख्या अधिक हो तो प्रत्येक जानवर के लिए लोहे के पाइपों से अथवा लकड़ी की बल्लियों से बनाये गये अलग अलग स्थान होने चाहिएं। हर खूंटे के सामने चारे के लिए एक एक नांद होनी चाहिए, उसके खड़े होने का स्थान होना चाहिए और उसके पीछे की ओर एक नाली होनी चाहिए। जानवरों को दो

पंक्तियों में रखा जा सकता है। उन्हें या तो आमने सामने खड़ा किया जा सकता है अथवा ऐसे तरीके से कि उनकी दुमें एक दूसरे से छूती हों।

ढोरों में बीमारी के लक्षण

ढोरों को अनेक प्रकार की बीमारियां हो सकती हैं। प्रतिवर्ष इन बीमारियों से काफी संख्या में ढोर मरते हैं। बीमारियों से पशुओं की उत्पादन क्षमता कम होती है और उनके मालिकों को काफी आर्थिक हानि सहनी पड़ती है।

ढोर का स्वास्थ्य सामान्य होता है तो वह चुस्त, फुर्तीला और चालढाल में सतर्क दिखायी देता है। उसे सामान्य भूख लगती है और वह अच्छी नींद लेता है। बीमारी का पहला लक्षण तो यह है कि जानवर जुगाली करना बन्द कर देता है। दूध भी वह कम मात्रा में देने लगता है। इसकी आंखों से, नथुनों से और मुख से स्राव निकलने लगता है। जानवर बेचैन हो जाता है तथा बार बार आसन बदलता है। बीमारी के अन्य प्रमुख लक्षण हैं: सुस्त सी आंखें, ढलकते हुए कान, सूखी थूथन, खुरदरा आवरण और रुक रुक कर सांस लेना, तापमान का बढ़ना और नाड़ी धड़कने की गति का बढ़ना तथा श्वास गति का तेज होना।

ढोरों के शरीर का सामान्य तापमान लगभग 38.3 दर्जे सेल्सियस (101 दर्जे फॉरनहीट) है। जानवर की गुदा में सामान्य थर्मामीटर डालकर उसका तापमान देखा जा सकता है। नाड़ी की गति 40 से 60 प्रति मिनट तक हो सकती है। नाड़ी को दुम की जड़ के निकट अन्दर की ओर महसूस किया जा सकता है। श्वसन गति 15 से 30 प्रति मिनट हो सकती है। भैंसों में तो सामान्य शारीरिक तापमान 37.2 दर्जे से लेकर 38.8 दर्जे सेल्सियस (99 से 102 दर्जे फॉरनहीट) तक कुछ भी हो सकता है। नाड़ी की गति 40 से 45 प्रति मिनट के बीच बदलती रहती है। श्वसन गति 16 से 18 प्रति मिनट के बीच होती है।

समय पर टीके लगवाकर और उचित सावधानियां बरतकर ढोरों के अधिकांश संक्रामक रोगों को नियंत्रित किया जा सकता है। 'इलाज से परहेज अच्छा है' स्वर्णिम नियम है और जानवरों के स्वास्थ्य के बारे में विचार करते हुए भी इसे भुलाया नहीं जाना चाहिए।

यदि कोई संक्रामक रोग फैल रहा हो तो सभी जानवरों की अच्छी तरह से जांच की जानी चाहिए। जिन ढोरों में कोई असामान्य लक्षण दिखायी दें, उन्हें तुरन्त ही अलग कर दिया जाना चाहिए। जब भी किसी जानवर के रोग से आक्रान्त होने का सन्देह हो तो बाडे को अच्छी तरह से कीटाणुरहित किया जाना चाहिए।

रोगी जानवरों को पृथक् रखा जाना चाहिए। उनकी देखभाल के लिए अलग अलग सेवकों की व्यवस्था की जानी चाहिए। पहले स्वस्थ जानवरों की तथा बाद में रोगी जानवरों की देखभाल की जानी चाहिए। रोगी ढोरों की टहल करने के बाद सेवक को अपने हाथ पांव अच्छी तरह से साफ कर लेने चाहिएं। जिस अवधि में बीमारी फैली हो, उस दौरान स्वस्थ जानवरों को आम चरागाहों अथवा पशु मेलों में नहीं भेजा जाना चाहिए। कीटाणुओं से प्रभावित चरागाह में हल चलाया जाना चाहिए और वहां बुझे चूने की परत डाल दी जानी चाहिए। उसे कुछ मास के लिए खाली रखा जाना चाहिए। रोगी पशु के शव को सोने के अथवा लेटने के काम आने वाली बिछाली सहित दबाकर अथवा जलाकर नष्ट कर दिया जाना चाहिए। यदि

जलाना सम्भव न हो तो शव को दो मीटर गहरे गड्ढे में दबाकर उस पर चूने की एक परत डाल दी जानी चाहिए।

ढोरों के प्रमुख रोग

गिल्टी रोग (एन्थ्रेक्स) : ढोरों तथा भैंसों का यह एक बहुत ही संक्रामक और घातक रोग है। यह मनुष्यों में भी फैल सकता है।

इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं: ऊंचा तापमान 41 दर्जे सेल्सियस (106 दर्जे फॉरनहीट), आंखों तथा मुख की दिखायी देने वाली झिल्लियों में रुधिर संकुलता। शरीर के विभिन्न भागों में सूजन पैदा हो सकती है। इन सूजे हुए स्थानों में न तो पीड़ा ही होती है और न ही वे गर्म होते हैं। प्राकृतिक विवरों से रुधिरयुक्त स्त्राव निकलने लगता है। रोगी जानवर 10 से 36 घण्टे के भीतर मर जाता है।

इस रोग की रोकथाम का उपाय है तत्काल ही स्वस्थ जानवरों को अलग कर देना। रोगी होकर मरने वाले जानवर के शव को जला दिया जाना चाहिए अथवा बिछाली सहित दबा दिया जाना चाहिए। उस स्थान को अच्छी तरह से कीटाणु रहित कर लिया जाना चाहिए। मरे जानवरों की चमड़ी को उतारा नहीं जाना चाहिए। जिन क्षेत्रों में रोग बहुत अधिक फैला हो, वहां पर वर्षा प्रारंभ होने से पहले ही जानवरों को टीके लगवा लिए जाने चाहिएं। सम्पर्क में आनेवाले जानवरों को एन्थ्रेक्सरोधी सीरम दिया जाना चाहिए।

जहरबाद, लंगड़ी (ब्लैक क्वार्टर) : यह अत्यन्त प्रचण्ड, संक्रामक और घातक पशु रोग है। यह रोग आमतौर पर छः मास से लेकर दो वर्ष की उम्र तक के पशुओं को ही होता है। इसका संक्रमण धरती की मिट्टी से ही होता है। यह भी हो सकता है कि यह रोग किसी विशेष क्षेत्र में ही सीमित हो। यह रोग प्रायः वर्षा ऋतु में होता है। यह रोग बड़ी तेजी से असर करता है और जानवर कुछ दिन के भीतर ही मर जाता है।

इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं: तापमान का बहुत अधिक बढ़ जाना, जानवर का लंगड़ाने लगना, विभिन्न आकारों की पीड़ा देनेवाली सूजनों का पैदा होना। ये सूजन प्रायः सुविकसित मांसपेशियों वाले अवयवों, तथा पिछले पुट्ठों, में ही पैदा होती हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी सूजन कन्धों पर तथा गर्दन पर भी हो सकती है। प्रभावित स्थान की चमड़ी सूखकर काली हो जाती है। दबाने पर वह कड़कड़ाने लगती है।

इस रोग से बचाव के उपाय हैं: स्वस्थ जानवरों को अलग कर देना तथा उनको रोग प्रभावित क्षेत्रों से दूर रखना। सन्दूषित चरागाहों में खेती करवा देनी चाहिए। रोगी जानवर के शव को और उसकी बिछाली को जलाकर अथवा दबाकर नष्ट कर दिया जाना चाहिए। यह रोग जिन क्षेत्रों में बहुत अधिक फैला हो, वहां वर्षा शुरू होने से पहले ही पशुओं को टीके लगवा देने चाहिएं। बीमारी यदि फैल ही जाये तो सम्पर्क में आनेवाले जानवरों को लंगड़ी-रोगरोधी सीरम के टीके लगाये जाने चाहिएं।

संक्रामक गर्भपात : यह दीर्घकालिक छूत रोग है। भ्रूण के समय से पहले बाहर निकल आने अथवा बछड़े के असामयिक जन्म से इस रोग के होने का पता चलता है।

इस रोग के प्रमुख लक्षण हैं : दूध देने की अवधि का कम होना, सामान्य स्वास्थ्य का

गिरना तथा ढोरों में बार बार गर्भपात होना। गर्भपात से पहले बेचैनी होने लगती है, खीस का स्राव होने लगता है तथा प्रसव के अन्य सामान्य चिन्ह दिखायी देने लगते हैं। गर्भपात से कुछ समय पहले योनि से अपारदर्शी स्राव भी निकल सकता है। गर्भपात प्राय: गर्भावधि के अन्तिम और तीसरे चरण में होता है। जेर रुक जाती है। सांडों में छूत से प्राय: अण्डकोशों में सूजन पैदा हो जाती है।

अच्छे प्रबन्ध और स्वास्थ्यकर तरीकों को अपनाकर इस बीमारी को रोका जा सकता है। जिस जानवर में इस बीमारी के होने के संकेत मिलें, उसे तुरन्त ही पृथक् कर देना चाहिए। बाहर निकले भ्रूण, जेर तथा बिछाली को जला दिया जाना चाहिए। जिन यूथों में इस रोग के होने की आशंका हो, उसके जानवरों का एग्लूटिनेशन टेस्ट करवाया जाना चाहिए। जिन भी जानवरों के रोग संक्रमित होने का पता चले, उन्हें अलग कर दिया जाना चाहिए। जानवरों को छ: से आठ मास की उम्र में बछड़ापन का हुड टीका दिया जाना चाहिए।

चेचक : यह बहुत ही संक्रामक रोग है। भैंसों तथा अन्य सभी ढोरों को हो जाता है। दुहने वाले व्यक्तियों ने चेचक के टीके नहीं लगवाये होते तो उनको भी यह बीमारी होने का खतरा रहता है।

इस बीमारी के मुख्य लक्षण हैं: हल्का ज्वर और जुगाली में धीमापन, थनों तथा उनके चारों तरफ के भागों का लाल हो जाना व सूजना। चमडी का स्फुटन जो प्राय: हवानों तथा थनों पर ही होता है। परिणामस्वरूप पीप-फुंसियां पैदा हो जाती हैं। इसके बाद लगभग दस दिन में वहां पपडी बन जाती है। यदि जानवर पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता तो स्तनशोथ हो जाता है और वह दूध देना बिल्कुल बन्द कर देता है।

इस बीमारी को रोकने के उपाय हैं: रोगी जानवर को अलग कर देना और अलग सेवकों द्वारा दुहा जाना। दुहने के बाद सेवकों को चाहिए कि वे सावधानी से अपने हाथों को कीटाणुरहित कर लें। यदि पृथक् सेवकों की व्यवस्था न की जा सकती हो तो स्वस्थ जानवरों को दुहने के बाद ही रोगी जानवरों को दुहा जाये।

खुरपका अथवा खुरहा (फुट एंड माउथ डिजीज) : यह ढोरों तथा भैंसों का बहुत ही संक्रामक रोग है। यद्यपि छोटी आयु के अतिरिक्त अन्य उम्र के जानवरों के लिए यह घातक नहीं, फिर भी दूध की मात्रा कम हो जाने तथा रोगी जानवर के काम करने में असमर्थ हो जाने के कारण काफी हानि होती है।

इस बीमारी के मुख्य लक्षण हैं. बुखार, भूख का कम होना, जुगाली की गति धीमी होना, दूध की मात्रा कम होना, लंगड़ाने लगना अथवा मुंह का दुखने लगना। प्रारम्भ में तो रोगी जानवर को एक अथवा अनेक अंगों को बार बार हिलाते देखा जाता है। आवाज करते हुए ओठों के विशिष्ट तरीके से अलग होने से ही इस रोग के संक्रमण होने का पता चलता है। जानवर के मुंह से काफी मात्रा में लार निकलने लगती है जो फेनिल पदार्थ के रूप में ओठों से निकलती रहती है। फफोलों (वेसिकल) के प्रकट होने के बाद मसूड़ों, ओठों और जीभ की ऊपरी सतह पर अथवा खुरों के विदर के भीतरी तरफ श्लेष्मक झिल्लियों पर व्रण पैदा होते जाते हैं।

इस रोग की रोकथाम के लिए रोगी जानवर को अलग कर दिया जाना चाहिए। रोग फैला हुआ हो तो जानवरों के घूमने फिरने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए। व्रण जब तक पूरी तरह से ठीक न हो जायें, जानवर को आराम देना चाहिए। उसे सूखे और साफ स्थान पर बांधना चाहिए। मुख से पांवों तक के क्षतों तथा व्रणों को अच्छी तरह धोया जाना चाहिए। रोग की अवधि कम करने के लिए हल्के रोगी जानवरों के मुख का लार स्वस्थ जानवरों को लगा दिया जाना चाहिए। जब बहुत जानवरों का इलाज करना हो तो उनके पांवों को धोने के लिए उन्हें ऐसे द्रव में से धीमे धीमे गुजारा जाना चाहिए जिसमें रोगाणुरोधक घोल मिला हो।

गलघोटू: यह ढोरों तथा भैंसों का प्रचण्ड और बहुत ही चिन्ताजनक व संक्रामक रोग है। यह रोग आमतौर पर उन निचले क्षेत्रों में होता है जहां समय समय पर बाढ़ें आती रहती हैं। यह रोग चिन्ताजनक रूप तो प्राय: वर्षा ऋतु में ही धारण करता है, परन्तु वर्ष के अन्य समयों में भी इस रोग का आक्रमण कुछेक पशुओं पर हो सकता है।

इस रोग के मुख्य लक्षण हैं : आक्रमण की आकस्मिकता तथा कुछ घंटों के भीतर ही पशु की मृत्यु; जानवर का तापमान बहुत बढ़ जाना, दिखायी देने वाली झिल्लियों का बहुत लाल हो जाना तथा मुख से लार निकलने लगना। गले तथा उसके आसपास के ऊतक सूजन से कठोर हो जाते हैं तथा गर्म भी। वे पीड़ा भी करते हैं। सूजन सिर तथा गर्दन तक बढ़ सकती है। कभी कभी तो यह आगे के अंगों पर भी हो जाती है। सांस लेने में कठिनाई होने लगती है तथा कभी कभी गला भी घुटने लगता है। प्रारम्भ में तो कब्ज और उदरशूल की शिकायत होने लगती है तथा बाद में जानवर को पेचिश भी लग सकती है।

रोगपीड़ित जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। कीटाणु प्रभावित शव और बिछाली को चूने के साथ गहराई में दबा दिया जाना चाहिए। जहां इस रोग का संक्रमण बहुत अधिक हो, वहां जानवरों को प्रतिवर्ष टीके लगाये जाने चाहिएं। टीके वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने से पहले ही लगा दिये जाने चाहिएं। बीमारी फूट पड़े तो सम्पर्क में आने वाले जानवरों को रोधी सीरम से तथा अन्य जानवरों को टीके लगाकर सुरक्षित किया जाना चाहिए।

स्तनशोथ: यह संक्रामक रोग है और इससे पीड़ित गायों तथा भैंसों के हवानों में शोथ हो जाता है।

इस रोग का तीव्र आक्रमण प्राय: प्रसव के बाद ही होता है। दूध देने की शेष अवधि में तो अपेक्षतया इस रोग के आक्रमण कम ही होते हैं।

इस रोग का सामान्य लक्षण यह है कि हवाना के पीड़ित चतुर्थांश में शोथ हो जाता है। उसे छूने से दर्द होता है। जानवर को बुखार हो जाता है तथा दूध में भी कुछ अन्तर आ जाता है। उसमें कुछ रुधिर मिला प्रतीत होने लगता है। दूध में प्राय: थक्के देखने को मिलते हैं।

दुधारू जानवरों को सदैव स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में और साफ स्थान पर रखा जाना चाहिए। जानवर को दुहते समय पूरा हाथ इस्तेमाल किया जाना चाहिए। थन और हथेली के बीच अंगूठा रखना टाला ही जाना चाहिए। रोगी जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। सारे प्रस्त्राव तथा दूषित बिछाली को जला कर नष्ट कर दिया जाना चाहिए।

पशु-प्लेग : ढोरों तथा भैंसों का यह बहुत ही संक्रामक रोग है।

इस रोग के मुख्य लक्षण हैं: शरीर के तापमान का बढ़ना; ओठों, मसूड़ों और जीभ की निचली सतह पर श्लेष्मक झिल्लियों और क्षतों का होना और आंखों तथा मुख से गाढ़ा प्रस्राव निकलने लगना। जानवर को विशिष्ट प्रकार की दुर्गन्ध वाला अतिसार हो जाता है। वह तेजी से कमजोर होता जाता है और मर जाता है।

रोग लग जाने पर जानवरों की गतिविधि पर रोक लगा दी जानी चाहिए। पीड़ित जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। जानवरों के शैडों को अच्छी तरह कृमिविहीन किया जाना चाहिए। मरे पशु के शव तथा दूषित बिछाली को बड़ी सावधानी से नष्ट कर दिया जाना चाहिए। रोगपीड़ित तथा सम्पर्क में आनेवाले जानवरों को टीके लगवा दिये जाने चाहिएं। रोग रोकने के लिए सभी स्वस्थ जानवरों को टीके लगवाये जाने चाहिएं। एक बार टीका लगा देने से वह सारे जीवन रोग के आक्रमण से बचा रहता है।

तपेदिक : यह एक दीर्घकालिक संक्रामक रोग है। गायों, भैंसों सहित इस रोग से जानवरों की अनेक जातियां पीड़ित होती हैं। सन्दूषित दूध अथवा मांस द्वारा यह रोग मनुष्यों को भी हो जाता है।

इस रोग के मुख्य लक्षण हैं: स्वास्थ्य का गिरना; हल्की, सूखी और शुष्क खांसी तथा जानवर का धीरे धीरे दुर्बल होना। जब इस रोग का आक्रमण उदर पर अधिक होता है तो उसे बार बार अफारा पड़ता है। बीच बीच में अतिसार की शिकायत उसे हो जाती है। जब इस रोग से हवाना प्रभावित होता है तो वह फैल सा जाता है और कुछ कुछ कठोर हो जाता है। पहले तो दूध में कोई अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु बाद में वह पानी जैसा पतला तथा हरापन लिये पीला हो जाता है और उसकी मात्रा बहुत कम हो जाती है।

जानवरों को स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रखा जाना चाहिए। अधिक जानवरों को थोड़े स्थान पर नहीं रखा जाना चाहिए। जिन यूथों में रोग के फैले होने की आशंका हो, उसके जानवरों की परीक्षा की जानी चाहिए। हर छ: महीने के बाद जांच होनी चाहिए। ऐसा तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि निरन्तर दो निरीक्षणों में जानवरों को इस रोग से मुक्त न पाया जाये। रोग पीड़ित जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। बछड़े को रोग प्रभावित मां का दूध नहीं पिलाया जाना चाहिए। सन्दूषित शव और बिछाली को सावधानी से नष्ट किया जाना चाहिए।

दूध का बुखार : गायों तथा भैंसों को होने वाला यह एक सामान्य रोग है। अधिक दूध देने वाले ऐसे जानवर को अच्छी हालत में ही इस रोग से अधिक पीड़ित होने की सम्भावना रहती है। आमतौर पर यह रोग जानवर के तीसरे प्रसव के बाद होता है जबकि वह अधिकतम उत्पादन कर रहा होता है। जानवर प्रसव के तत्काल बाद अथवा ठीक पहले बच्चा देने के बाद 72 घंटे की अवधि में इस रोग से पीड़ित हो जाता है।

इस रोग के मुख्य लक्षण हैं: सुस्त और भावविहीन आंखें, शुष्क थूथन और उत्तेजना। जानवर अपनी अगली और पिछली टांगों के बल लेट जाता है और अपना सिर घुमा कर अपनी छाती पर टिका देता है और उसकी नाक पार्श्वों की तरफ संकेत कर रही होती है

अथवा वह फैल जाता है और धरती के साथ विश्राम करने लगता है। तापमान सामान्यत: सामान्य से कम होता है। पेशाब और गोबर करना कुछ देर के लिए रुक जाता है। छ: से चौबीस घण्टे के भीतर ही जानवर की मौत हो जाती है।

इस रोग से पीड़ित जानवर के हवाने को गीली बोरी से साफ किया जाना चाहिए। धरती द्वारा सन्दूषित होने से बचाव के लिए साफ तौलिया अथवा कपड़े का एक टुकड़ा हवाने के नीचे रख दिया जाना चाहिए। साइकल पम्प का इस्तेमाल करके हवाने के हर भाग को अच्छी तरह फुला लिया जाना चाहिए। थनों के निचले भाग पर एक फीता बांध दिया जाना चाहिए ताकि उनमें से हवा न निकल जाये। हवाने को बड़ी कोमलता से मला जाना चाहिए ताकि हवा उसके सभी भागों में फैल जाये। सामान्यत: हवाना फुलाने के चार घण्टे के भीतर ही जानवर अपने पांवों पर उठ खड़ा होगा परन्तु कभी कभी जानवर के हवाने को दुबारा फुलाने की भी आवश्यकता पड़ सकती है। होश में आ जाने का पहला लक्षण तो यह है कि जानवर गोबर करने लगता है। उसे मूत्र भी आने लगता है। रोगी जानवर को होश में आने के 12 घण्टे बाद दुहा जाना चाहिए। दो या तीन दिन तक दुहने के समय हवाने को पूरी तरह से खाली नहीं किया जाना चाहिए।

केटोसिस : ऐसा माना जाता है कि केटोसिस शरीर में शर्करा के अनुचित उपयोग या कमी के कारण होता है। आमतौर पर यह रोग ऐसे ढोरों को होता है जिन्हें काफी समय तक राशन के लिए बिना पर्याप्त सान्द्रण के सूखा चारा खिलाया जाता है या फिर अधिक दूध देने वाली गायों को दुग्धसुवण के पहले मास के दौरान होता है।

लक्षण: केटोसिस से पीड़ित पशु घबरा जाते हैं। उनकी भूख मर जाती है और दुग्ध उत्पादन में रुकावट आ जाती है। अधिक दूध देने वाली गायों को यह रोग सबसे ज्यादा होता है।

निवारण और नियंत्रण : अच्छी खुराक, जिसमें बढ़िया क्वालिटी की घास और साइलो संरक्षण हो, सर्वोत्तम निवारक उपाय है। कुछ डेयरी वाले नयी गायों के लिए राशन में शर्करा या सीरा मिलाकर कार्बोहाइड्रेट बढ़ा देते हैं।

अफारा : इस रोग में गैस भर जाने के कारण प्रथम आमाशय फूल जाता है। यह रोग प्राय: अच्छी और आसानी से किण्वन हो जानेवाले हरे चारे से विशेष रूप में उस हालत में होता है जब कि चारा ओस के कारण गीला हो तथा बहुत थोड़े समय के भीतर ही अधिक मात्रा में लिया गया हो। फलीदार और गूदेदार चरागाहों पर चरने के तुरन्त बाद काफी मात्रा में जल पी लेने पर इस रोग का आक्रमण और भी जल्दी हो जाता है। मां का दूध पीनेवाले बछड़े, जो अधिक मात्रा में दूध पी लेते हैं, या कमजोर पाचन शक्तिवाले जानवर को अथवा ऐसे जानवर को, जिसका सामान्य स्वास्थ्य ठीक न हो अथवा किसी बीमारी से ठीक हो पुन: स्वास्थ्य लाभ कर रहा हो, अफारा होने की अधिक आशंका रहती है।

इस बीमारी के मुख्य लक्षण ये हैं: जानवर खुराक लेना बन्द कर देता है, बहुत बेचैन दिखता है, अपनी पीठ वक्र करके खड़ा होता है और पार्श्वों की ओर देखता है। उसका उदर शीघ्र ही फूल जाता है—विशेष रूप से बायीं ओर। हाथ मारने से उसमें से ढोल के समान आवाज निकलती है। तकलीफ के कारण जानवर गुर्राता है और कराहता है। फूले हुए आमाशय

के कारण फेफड़ों पर दबाव डालने से श्वास लेना कठिन हो जाता है। कभी कभी तो जानवर बार बार जमीन पर लोटने लगता है और फिर खड़ा हो जाता है। उसके मुख से लार निकलने लगती है। जीभ बाहर निकालकर वह हवा को अन्दर खींचता है। रोग तीव्र होने पर जानवर की मौत हो सकती है।

जानवर भूखा हो तो उसे गूदेदार और फलीदार चारा नहीं देना चाहिए। खुराक में आकस्मिक परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए। रोग की प्रारम्भिक अवस्था में तो जानवर को बड़े धीमे धीमे चलाया जाना चाहिए। बांयें पार्श्व पर दबाव डालकर प्रथम आमाशय की मालिश की जानी चाहिए। सारे प्रथम आमाशय पर ठण्डा जल डालना चाहिए और उस पर तारपीन का तेल मला जाना चाहिए। रोग की तीव्रता समाप्त होने तक किसी भी तरह की खुराक देना बन्द कर दिया जाना चाहिए। जल केवल थोड़ी ही मात्रा में दिया जाना चाहिए। यदि हालत बहुत खराब हो तो प्रथम आमाशय में छेद कर लिया जाना चाहिए। प्रथम आमाशय के बांयें पार्श्व के मध्य में एक सूची शलाका तथा सूची शलाका नली अथवा तेज चाकू से छेद किया जा सकता है।

2. भेड़ें

परिचय

पालतू पशुओं में भेड़ें सबसे अधिक विनम्र होती हैं। वे सदियों से मनुष्य के पद चिह्नों की अनुगामी रही हैं और अन्न तथा वस्त्र उपलब्ध करके उसके जीविकोपार्जन में सहायता देती आयी हैं। भेड़ों से प्रतिवर्ष ऊन तथा मेमने प्राप्त होते हैं। भेड़ों की मींगनी से बढ़िया खाद भी प्राप्त होती है। इनसे खरपतवार नष्ट करने में भी सहायता मिलती है। जहां भी भेड़ों का पालन पोषण किया जाता है, वहां कृषि फलती फूलती है।

1961 में भारत में 12 करोड़ 26 लाख रुपये के मूल्य का 33,298 हजार मीट्रिक टन ऊन और 6 करोड़ 83 लाख रुपये के मूल्य की 1 करोड़ 53 लाख (भेड़ों की) खालों का उत्पादन हुआ। अनुमानत: 1959-60 में 23 करोड़ 13 लाख रुपये के मूल्य के 131 हजार मीट्रिक टन भेड़ के मांस का उत्पादन हुआ था।

भेड़ों से मिलनेवाली खाद उर्वरता बढ़ाने की दृष्टि से बहुत मूल्यवान मानी जाती है। कृषि भूमि को प्रत्येक भेड़ से प्रतिवर्ष 0.5 से 0.7 मीट्रिक टन खाद मिलती है। इस खाद में ढोरों से प्राप्त होनेवाली खाद की अपेक्षा दुगुना नाइट्रोजन और पोटेशियम होता है।

भारत में ऊन का उत्पादन करनेवाली भेड़ें अधिकांशत: उत्तरी भारत के मैदानों के शुष्क क्षेत्रों में और जोरिया प्रदेश—राजस्थान, कच्छ, सौराष्ट्र तथा उत्तरी गुजरात—में पायी जाती हैं। दक्षिणी पठार में, विशेषकर आन्ध्रप्रदेश के पूर्वी भागों और मद्रास राज्य में, ये अधिकतम संख्या में पायी जाती हैं। इस क्षेत्र की अधिकांश भेड़ें अच्छी मात्रा में ऊन तथा मांस देती हैं।

1982 की पशुधन गणना में भारत में 4 करोड़ 88 लाख भेड़ें थीं। 1977 की तुलना में भारत में भेड़ों की संख्या में 19.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1977 में 4 करोड़ 9 लाख भेड़ें थीं।

राज्यों के क्रमानुसार 1982 में भेड़ों की संख्या आन्ध्रप्रदेश 75 लाख 20 हजार थी और हरियाणा में 7 लाख 60 हजार , हिमाचल प्रदेश 10 लाख 90 हजार , कर्नाटक 47 लाख 90 हजार , उड़ीसा 19 लाख 90 हजार , पंजाब 4 लाख 20 हजार , तमिलनाडु 55 लाख 40 हजार , पं. बंगाल 13 लाख 70 हजार , राजस्थान 134 लाख 30 हजार , उत्तरप्रदेश 23 लाख 10 हजार , महाराष्ट्र 26 लाख 70 हजार , गुजरात 23 लाख 60 हजार , जम्मू-कश्मीर 19 लाख , बिहार 23 लाख 60 हजार तथा मध्यप्रदेश 9 लाख 60 हजार थी।

संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संस्थान के अनुसार 1991 में संसार में अनुमानत: 119 करोड़ भेड़ें थीं, जिसमें भारत में भेड़ों की संख्या 557 लाख थी। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, चीन, पूर्व सोवियत गणराज्य, ब्रिटेन तथा स्पेन में इनकी संख्या अधिक है।

संसार में भेड़ों की 200 से अधिक नस्लें पायी जाती हैं। दूध, मांस तथा ऊन की मात्रा की दृष्टि से इनकी विशेषताएं भिन्न भिन्न हैं। संसार का ऊन उत्पादन अनुमानत: लगभग

25 लाख मीट्रिक टन है। इसमें में 40 प्रतिशत बढ़िया मेरिनो ऊन है तथा 40 प्रतिशत मेरिनो से उत्पन्न अन्य नस्लों की भेड़ों की ऊन है। शेष ऊन कालीन-उपयोगी किस्म का कहा जाता है।

भेड़ों की प्रमुख नस्लें

मोटे तौर पर तीन नस्लों की भेड़ें भारत में पायी जाती हैं। देश के तीन मुख्य भू-भौतिक खण्डों, शीतोष्ण हिमालय क्षेत्र, शुष्क पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र, की अलग अलग नस्लें हैं।

शीतोष्ण हिमालय क्षेत्र में कश्मीर, हिमाचलप्रदेश तथा पंजाब के पर्वतीय जिले सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र की भेड़ की ऊन उम्दा किस्म की होती है तथा अधो आवरण अधिक प्रतिशत मात्रा में प्राप्त होता है। इस क्षेत्र की प्रमुख नस्लें हैं: **गुरेज, करान्ना, भाकरवाल, गद्दी** और **रामपुर बुशहर**।

गुरेज: ऊन देनेवाली भेड़ों में यह नस्ल सबसे महत्वपूर्ण है। कश्मीर राज्य के ऊंचे क्षेत्रों में स्थित गुरेज तहसील में ही मुख्य रूप से यह नस्ल पाली जाती है। इसकी ऊन लम्बे रेशोंवाली और चमकदार तथा सफेद रंग की होती है। बाल उसमें कम होते हैं। एक बार काटने पर औसतन 1.5 किलोग्राम ऊन प्राप्त होती है। इस नस्ल की भेड़ का मांस उम्दा किस्म का माना जाता है। कश्मीरी नस्लों में गुरेज नस्ल की भेड़ सबसे बड़ी होती है। अधिकतर भेड़ें सींगरहित व छोटे कानों वाली होती हैं।

करान्ना: यह नस्ल कश्मीर राज्य में मुख्यत: केल के निकट पायी जाती है। ऊन का रंग प्राय: सफेद होता है। ऊन का इस्तेमाल प्राय: स्थानीय रूप से ही ऊनी कपड़े बनाने के लिए किया जाता है। इस नस्ल की मादा भेड़ों के सींग बड़े और वक्र होते हैं तथा चेहरा लम्बा। उनकी नाक ऊपर उठी होती है।

भाकरवाल: इस नस्ल का मूल स्थान हिमालय पर्वत की अपेक्षतया कम ऊंची पहाड़ियां हैं। इन भेड़ों को भाकरवाल नामक जाति के गडरिये चराते हैं। ये लोग अपनी भेड़ों को ग्रीष्म ऋतु में तो पहाड़ियों के शिखरों पर ले जाते हैं और शीतकाल में नीचे मैदानों में ले आते हैं। इन भेड़ों से प्राप्त होनेवाली ऊन लम्बी होती है परन्तु इसमें अपेक्षतया घटिया किस्म के रेशे मिले होते हैं। एक भेड़ से वर्ष में औसतन 1.5 किलोग्राम ऊन प्राप्त होती है। इस नस्ल के मेढ़ों के तो सींग होते हैं परन्तु भेड़ों के नहीं। कान इनके प्राय: लम्बे, चौड़े और ढलके होते हैं।

गद्दी (भद्रवाह): कश्मीर राज्य के जम्मू क्षेत्र की किस्तर और भद्रवाह तहसीलों की यह प्रमुख नस्ल है। पंजाब की कुल्लू-कांगड़ा घाटी में तथा हिमाचलप्रदेश के मण्डी क्षेत्र में भी इस नस्ल की भेड़ें पाली जाती हैं। इस नस्ल की भेड़ की ऊन प्राय: सफेद होती है। इनके अधो आवरण से बढ़िया किस्म के कुल्लू-शाल और कम्बल बनाये जाते हैं। इस नस्ल की भेड़ों का आकार मध्यम होता है। वे मजे में ऊंचाई चढ़ जाती हैं। मेढ़ों के सींग होते हैं परन्तु भेड़ों के नहीं।

रामपुर बुशहर: हिमालय क्षेत्र की यह एक प्रमुख नस्ल है। इस नस्ल का मूल स्थान

तो हिमाचलप्रदेश के महासू और किन्नौर जिले हैं। इस नस्ल की भेड़ों की ऊन भूरे रंग की होती है। अधो आवरण बड़ा कोमल होता है। इसकी ऊन का इस्तेमाल बढ़िया किस्म के कपड़े बनाने के लिए किया जाता है। इस नस्ल की भेड़ों से प्रतिवर्ष एक से दो किलोग्राम ऊन प्राप्त होती है।

शुष्क पश्चिमी क्षेत्र में राजस्थान, दक्षिण-पूर्व पंजाब, गुजरात और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ भाग हैं। इस क्षेत्र की ऊन को कालीन बनाने के उपयुक्त समझा जाता है। इस ऊन का बड़ी मात्रा में निर्यात होता है। इस क्षेत्र की प्रमुख नस्लें हैं: **लोही, बीकानेरी, मारवाड़ी, कच्छी, काठियावाड़ी।**

लोही: यह भेड़ मूलत: पश्चिम-पाकिस्तान के लायलपुर व मौण्टगुमरी जिलों की है। इस नस्ल की कुछ भेड़ें पंजाब में भी मिलती हैं। यह नस्ल बढ़िया किस्म के मांस उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है। इस नस्ल की भेड़ें काफी मात्रा में दूध देती हैं। इसकी ऊन लम्बे रेशों वाली और घटिया किस्म की होती है। इस नस्ल की भेड़ों का शरीर भव्य और सीधा होता है। शरीर बड़ा होता है और कान विशेष रूप से लम्बे होते हैं।

बीकानेरी: राजस्थान की एक प्रमुख नस्ल है। इस नस्ल के तीन भेद हैं— **चोकला, मागरा** और **नाली**। इन भेड़ों से कालीन बनाने में काम आने वाली उम्दा ऊन मिलती है। एक भेड़ वर्षभर में औसतन 1.5 किलोग्राम ऊन देती है। बीकानेरी नस्ल की भेड़ों का सिर भूरे रंग का होता है। इनका आकार मध्यम और शरीर सुगठित होता है।

मारवाड़ी: यह नस्ल राजस्थान के जोधपुर और जयपुर डिवीजनों में पायी जाती है। चुनींदा भेड़ें पाली और बाडमेर जिलों में पायी जाती हैं। मारवाड़ी नस्ल की भेड़ की प्रतिवर्ष एक से दो किलोग्राम मोटी सफेद ऊन उतरती है। इन भेड़ों का मुख काला होता है। ये काफी मजबूत होती हैं। इनकी टांगें लम्बी होती हैं।

कच्छी: सौराष्ट्र और गुजरात में इस नस्ल को देसी कहा जाता है। इसका मूल स्थान कच्छ के मरुस्थल हैं। चुनींदा रेवड़ पश्चिमी कच्छ के नलिया क्षेत्र में पाले जाते हैं। इस नस्ल की भेड़ों से प्राप्त ऊन से सेना के लिए हौजरी और ऊनी कपड़ा तैयार किया जाता है। इनकी ऊन का रंग सफेद होता है। प्रतिवर्ष एक भेड़ से एक से दो किलोग्राम तक ऊन प्राप्त होती है। यह ऊन और मांस दोनों के लिए उपयुक्त समझी जाती है। इस भेड़ का सिर सुस्पष्ट भूरे रंग का और शरीर नीचा होता है।

काठियावाड़ी: यह नस्ल, काठियावाड़ व कच्छ के निकटवर्ती प्रदेश, दक्षिणी राजस्थान और उत्तर-गुजरात में पायी जाती है। इस नस्ल की भेड़ से लम्बे रेशेवाली अपेक्षतया मोटी ऊन उतरती है। ऊन का रंग प्राय: सफेद होता है। भेड़ के चेहरे और टांगों पर गहरे भूरे और काले बाल होते हैं। वर्षभर में अनुमानत: 1.5 किलोग्राम ऊन एक भेड़ से प्राप्त होती है। ये भेड़ें मध्यम आकार की और मजबूत शरीर वाली होती हैं।

दक्षिणी क्षेत्र में महाराष्ट्र, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश, मद्रास और मध्यप्रदेश के कुछ भाग आते हैं। मूलत: इस क्षेत्र में दो किस्म की, ऊन देनेवाली और मांस देनेवाली, भेड़ें मिलती हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख नस्लें हैं: **दक्खिनी, नेल्लोर, बेल्लारि, मण्ड्या** और **बन्दूर**।

दक्खिनी : यह नस्ल महाराष्ट्र के दक्षिण-पूर्वी भाग और आन्ध्रप्रदेश के निकटवर्ती क्षेत्रों में पायी जाती है। इस नस्ल की भेड़ों से प्राप्त होनेवाली ऊन घटिया और उम्दा किस्म के अन्दरूनी आवरण से मिली होती है। इसका रंग आमतौर पर काला अथवा धूसर होता है। स्थानीय बुनकर ही कम्बल तथा कालीन बनाने के लिए मुख्यत: इसका प्रयोग करते हैं। एक भेड़ से प्रतिवर्ष 500 ग्राम से भी कम ऊन प्राप्त होती है। इन भेड़ों को मुख्यत: मांस के लिए पाला जाता है। ये भेड़ें आकार में छोटी परन्तु मजबूत होती हैं।

नेल्लोर : इस नस्ल की भेड़ें बालदार होती हैं परन्तु ये अच्छे मांस के लिए विख्यात हैं। भेड़ का रंग प्राय: सफेद होता है। यद्यपि कभी कभी काले और हल्का पीलापन लिये भूरे धब्बे भी इन पर पाये जाते हैं। नेल्लोर नस्ल की भेड़ भारतीय भेड़ों में सबसे ऊंची होती है। मेढ़े के सींग और भेड़ों की चांद होती है। भेड़ की दुम प्राय: बहुत छोटी होती है और उसके सिरे पर चक्करदार बाल होते हैं।

बेल्लारि : इस नस्ल की भेड़ दक्षिण-भारत के बेल्लारि जिले तथा करनूल जिले के अनेक भागों में पायी जाती है। इस भेड़ की ऊन घटिया किस्म की होती है। इसका रंग सामान्यत: काला होता है। वर्षभर में औसतन लगभग एक किलोग्राम ऊन एक भेड़ से उतरती है। इस नस्ल की भेड़ों की चमड़ी उम्दा किस्म की मानी जाती है। इन भेड़ों का आकार बड़ा होता है और शरीर सुगठित।

मण्ड्या : यह मैसूर राज्य की एक प्रमुख नस्ल है। इसकी ऊन अत्यधिक बालों वाली होती है।

बन्दूर : यह भेड़ अपेक्षतया छोटी होती है। यह भेड़ बढ़िया किस्म के मांस के लिए विख्यात है। इसे मण्ड्या जिले के बन्दूर गांव में पाला जाता है।

हाल के वर्षों में देसी भेड़ों की नस्ल सुधारने के लिए कुछ विदेशी भेड़ों का प्रचलन प्रारम्भ हुआ है। जर्मन और आस्ट्रेलिया मूल के मेरिनो मेढ़ों तथा रैंबूलियत नस्ल के मेढ़ों का काफी संख्या में इस्तेमाल किया गया है। देसी नस्लों की किस्म सुधारने में इनके इस्तेमाल के अच्छे परिणाम निकले हैं।

मेरिनो : बढ़िया किस्म की ऊन देनेवाली भेड़ों की विश्व की सर्वाधिक लोकप्रिय नस्ल है। ऊन उत्पादन के लिए बहुत प्राचीन काल से इनका पालन चला आ रहा है। इसे प्राय: सुनहरे पांवोंवाली भेड़ कहा जाता है। मेरिनो भेड़ें बहुत ही मजबूत होती हैं। अन्य नस्लों की भेड़ों की तुलना में इस नस्ल की भेड़ें अधिक समय जीवित रहती हैं और अधिक समय तक ऊन देती रहती हैं।

भारत में हिसारडेल नस्ल को मेरिनो नस्ल के मेढ़ों और बीकानेरी नस्ल की भेड़ों के मेल से तैयार किया गया है। हिसारडेल नस्ल की भेड़ों में बीकानेरी नस्ल के अच्छे मांस, विपरीत जलवायु का सामना करने की सामर्थ्य आदि गुणों और मेरिनो नस्ल की उम्दा ऊन और आकार की विशेषताएं पायी जाती हैं। आमतौर पर इस नस्ल की भेड़ों का मांस देसी भेड़ के मांस की तुलना में उम्दा माना जाता है।

रेम्बूलियत : इस नस्ल की भेड़ का मूल स्थान फ्रांस है। इन भेड़ों से बहुत ही उम्दा किस्म

की ऊन उतरती है। मांस की दृष्टि से भी ये भेड़ें बहुत अच्छी होती हैं। रेम्बूलियत नस्ल की भेड़ें खूब बच्चे देती हैं। ये अच्छी मां होती हैं। पहाड़ी विशेषताओं के लिए बहुत उपयुक्त समझी जाती हैं।

भेड़ों का प्रजनन व पालन पोषण

भेड़ें यद्यपि विभिन्न जलवायु और चरागाह सम्बन्धी परिस्थितियों में पाली जाती हैं, परन्तु एक विशेष नस्ल को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रचलित करने में काफी खतरा रहता है। किसी क्षेत्र में उपलब्ध परिस्थितियों में जिन नस्लों की भेड़ें और मेढ़ें सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हुए हों, उन्हें ही प्रजनन के लिए चुना जाना चाहिए। सबसे अच्छा तो यही रहता है कि स्थानीय नस्लों में से अच्छे जानवरों को चुन लिया जाये और नया खून प्रविष्ट करवा कर अथवा चुनींदा प्रजनन द्वारा उन नस्लों में सुधार किया जाये।

किसी झुण्ड को सुधारने के लिए मेढ़े का चुनाव बहुत महत्वपूर्ण है। मेढ़ा देखने में मर्दाना लगना चाहिए और मजबूत तथा स्वस्थ होना चाहिए। इसमें अपनी नस्ल की अच्छी विशिष्टताएं होनी चाहिएं और सन्तति में सम्प्रेषित करने की भी सामर्थ्य होनी चाहिए। मेढ़े का शरीर मांसपेशियों वाला होना चाहिए। सिर मजबूत और गर्दन भारी होनी चाहिए। इसकी टांगें मजबूत और पैर अच्छे होने चाहिएं। छाती चौड़ी और गहरी होनी चाहिए। अधरवक्ष चौड़ा और मांसल होना चाहिए। अच्छी भेड़ के शरीर की संरचना एकसम होनी चाहिए। उसका शरीर लम्बा और नीचे तना होना चाहिए। पिछले पुट्ठे काफी अलग अलग तथा हवाना बड़ा अच्छा होना चाहिए। चारा खोजने में उसे तेज होना चाहिए। उसमें प्रबल मातृत्व भावना और पर्याप्त मात्रा में दूध होना चाहिए ताकि उसके मेमने तेजी से अच्छी तरह विकसित हो सकें।

ऊन देने वाली नस्लों के मेढ़ों की ऊन अच्छी किस्म की और घनी होनी चाहिए। ऐसे मेमनों को अलग कर देना चाहिए जिनमें ऊन की तुलना में बाल अधिक हों। चेहरे तथा अवयवों के स्थूल घटिया और खड़ियावत् बालों से पता चलता है कि आवरण बालदार है। चेहरे और टांगों पर चमकदार, संकीर्ण, पतले तथा पारदर्शी बाल अच्छी ऊन के चिह्न हैं। सींगों के बीच के स्थान अथवा शीश शिखर पर कठोर बाल नहीं होने चाहिएं।

मांस वाली किस्म की भेड़ों के लिए मौसम के प्रारम्भ में पैदा हुए मेमनों को चुना जाना चाहिए। बाद में पैदा होने वाले मेमनों की तुलना में बड़े होकर वे अधिक विशाल होते हैं। मेमने में हड्डियों की बजाय मांसपेशियां अधिक होनी चाहिएं। जिन मेमनों का वजन चार या पांच मास की आयु तक अच्छा हो जाता है, उनसे काफी लाभ होता है। दूध छुड़वाने की आयु के मेमनों का मांस सर्वोत्तम किस्म का होता है।

प्रजनन व पालन-पोषण के लिए सारे रेवड़ को 40 से लेकर 50 भेड़ों तक के समूहों में बांट देना चाहिए। एक समूह के लिए एक मेढ़ा होना चाहिए। आठ या नौ मास की उम्र से ही मेढ़े भेड़ों से मेल कर सकते हैं। परन्तु 15 से 18 मास की उम्र से पहले मेल करवाया नहीं जाना चाहिए। सामान्यत: मेढ़ा ढाई से सात साल की उम्र के बीच पूर्ण यौवन पर होता है। अच्छी तरह पाले पोसे गये मेढ़े को दस वर्ष की आयु तक इस्तेमाल किया जा सकता

है। युवा मेढ़ों को एक प्रजनन ऋतु में 40 से अधिक भेड़ों से मेल नहीं करने दिया जाना चाहिए। चार से छः वर्ष की उम्र में मेढ़ों को एक ऋतु में 50 भेड़ों तक से मेल करवाया जा सकता है। जब मेढ़ों को नये स्थान पर लाया जाये तो उन्हें विश्राम करने दिया जाना चाहिए ताकि वे नयी परिस्थितियों के अभ्यस्त हो जायें। इसके बाद ही उनसे मेल करवाया जाना चाहिए। रेवड़ के नर मेमनों को दूध छुड़वा देने के तुरन्त बाद ही बधिया कर दिया जाना चाहिए ताकि मनमाने ढंग से प्रजनन न होता रहे। नर मेमनों को छोटी आयु में बधिया करवा देने से उनकी मांसपेशियों की तन्तु रचना सुधरती है। ये अधिक कोमल तथा अधिक अच्छी किस्म के हो जाते हैं।

भेड़ दो वर्ष की हो जाने पर परिपक्व हो जाती है। इससे पूर्व इनसे प्रजनन नहीं करवाया जाना चाहिए। सामान्यत: भेड़ें वर्ष में एक मेमना ही पैदा करती हैं। दो मेमनों के लिए प्रयास तभी किया जाना चाहिए जबकि रेवड़ के लिए अतिरिक्त चारा और अनाज-राशन की व्यवस्था करना सम्भव हो। गर्भधारण करने की अवधि भेड़ों में 142 दिन से लेकर 152 दिन के बीच हो सकती है। औसतन यह अवधि 147 दिन होती है। अन्य जानवरों के विपरीत भेड़ें सारा वर्ष गर्मी में नहीं आतीं। भेड़ों में गर्मी मौसमी होती है। ये हर 13 से 19 दिन के बाद गर्मी में आती हैं। प्रजनन ऋतु में गर्मी में आने की औसत अवधि 18 दिन होती है। भेड़ें 3 से 70 घण्टे तक गर्मी में रहती हैं। गर्मी की औसत अवधि 27 घण्टे होती है। मेल का सर्वाधिक उपयुक्त समय तो गर्मी की अवधि का अन्तिम भाग ही होता है।

भेड़ की तीन सुस्पष्ट प्रजनन ऋतुएं होती हैं। ये हैं: ग्रीष्म, पतझड़ और शीत। ग्रीष्म ऋतु में मेल से पैदा हुए मेमने अच्छे विकसित होते हैं। इसका कारण यह होता है कि गर्भावस्था के दौरान उनकी माताओं को अच्छी मात्रा में हरा चारा मिला होता है। शीतकाल में पैदा हुए मेमने भी अच्छे होते हैं। तब मानसून की फसल के अवशेष अथवा चरने के लिए मैदान उपलब्ध होते हैं। पतझड़ में पैदा हुए मेमने प्राय: घाटे में रहते हैं।

मेमना देने के समय भेड़ की दुम में एक विशिष्ट प्रकार की ऊर्ध्वाधर गति होती है। भेड़ रेवड़ से पीछे रह जाती है। अपनी अगली टांगों से यह मैदान को खुरचती है और खडी होकर अथवा बैठकर निरन्तर अपना स्थान बदलती रहती है।

सामान्य प्रसव में तो पैदा होने के समय मेमने का सिर अगली टांगों के साथ निकलता है। स्वस्थ भेड़ों को प्रसव के समय किसी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। सामान्यत: जन्म के कुछ मिनट के बाद ही मेमना अपनी टांगों पर खड़ा हो जाता है और थनों की ओर बढ़ता है। यदि मेमना कमजोर हो तो उसकी सहायता की जा सकती है। शीत ऋतु में भेड़ तथा नवजात मेमने को गर्म स्थान पर रखा जाना चाहिए।

देसी नस्ल की भेड़ों के मेमने जन्म के समय दो से चार किलोग्राम वजन तक के होते हैं। पहले तीन मास मेमने बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। मेमने की उम्र 8 से 16 सप्ताह के बीच होती है तो उनका दूध प्राय: छुड़वा दिया जाता है। पांच-छ: मास की आयु में मेमने बाजार के लिए मोटे किये जाने के लिए तैयार होते हैं। 18 मास की उम्र में उनका विकास पूरा हो जाता है। औसतन परिपक्व भेड़ का वजन 20 से 30 किलोग्राम और मेढ़े का वजन

35 से 45 किलोग्राम के बीच होता है। मेमनों से पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि भेड़ को चरने के लिए ऐसी परिस्थितियां उपलब्ध करवायी जायें कि उनके कारण अधिक देर तक दूध देते रहने की सम्भावना हो।

भेड़ के दूध में गाय के दूध की तुलना में अधिक केसिन, वसा और शर्करा होती है। भेड़ का दूध पीले रंग का होता है और वसा की गोलिकाएं बड़ी होती हैं। औसतन इसके दूध में 5.15 प्रतिशत प्रोटीन, 6.18 प्रतिशत वसा, 4.17 प्रतिशत शर्करा, 0.93 प्रतिशत खनिज और 83.57 प्रतिशत जल होता है।

भेड़ की खुराक

भेड़ प्राकृतिक घास, जड़ी-बूटियों तथा फार्मों के अवशिष्ट पदार्थों पर फलती फूलती है। भेड़ का थूथन छोटा होता है तथा ऊपरी होंठ फटा होता है। इसलिए भेड़ जड़ी-बूटियों की ऐसी पत्तियों में मुंह मार सकती है जो अन्य जानवरों द्वारा नहीं खायी जा सकतीं। भेड़ निरन्तर एक ही चरागाह पर चरना पसन्द नहीं करती। यह अच्छा रहता है यदि रेवड़ को प्रात:काल हल्की भूमि पर तथा दोपहर बाद अपेक्षतया भारी परती भूमि पर चराया जाये। सर्दियों में घास पर पड़ी ओस भेड़ को नहीं खाने देनी चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में भेड़ों को ऐसे स्थानों पर चराया जाना चाहिए जहां दूब अथवा कुण्डा नाम की कठोर घास हो। सामान्यत: भेड़ को प्रतिदिन ढाई से पांच किलोग्राम हरे चारे की आवश्यकता होती है।

उस समय को छोड़ जब भेड़ों को मांस-बाजार के लिए मोटा करना हो उन्हें अनाज-राशन नहीं दिया जाता। प्रजनन ऋतु में भेड़ों को प्रतिदिन ढाई सौ से पांच सौ ग्राम सान्द्रित राशन की आवश्यकता होती है। दो भाग पिसे अनाज अथवा गुआर-बीज को एक भाग गेहूं के चोकर और एक प्रतिशत नमक के साथ मिलाकर प्रजनक भेड़ों के लिए अच्छा अनाज-राशन तैयार किया जा सकता है।

मेढ़ों को स्वस्थ रखने के लिए ताजे और साफ जल की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। खड़े जल वाले तालों से जल पीने को यदि मजबूर न हो तो भेड़ बहते नालों से जल पीना अधिक पसन्द करती है। भेड़ को स्वस्थ रखने में यह बात भी काफी सहायक रहती है कि उसके पीने के लिए स्थायी रूप से ऐसे बर्तन रख दिये जायें जिनको साफ रखना सम्भव हो। भेड़ की अधिकांश प्रमुख बीमारियां गन्दा अथवा खड़ा जल पीने से ही होती हैं।

भेड़ों की सामान्य प्रबन्ध व्यवस्था

स्वभावत: भेड़ें दब्बू और आज्ञाकारी होती हैं। ये सहज रूप से ही अपने नेता का अनुगमन करती हैं। मैदानों तथा चरागाहों में चराते समय इनकी इस आदत का लाभ उठाया जाता है।

ढोरों तथा घोड़ों के विपरीत भेड़ों को वर्ष के अधिकांश भाग में प्राकृतिक अवस्था में अपेक्षतया अधिक बड़े रेवड़ों में रखकर पाला जाता है। एक एक भेड़ की अलग टहल करनी न तो आवश्यक ही है और न ही आर्थिक दृष्टि से लाभकारी। इसलिए यह आवश्यक है कि रेवड़

की व्यवस्था सम्बन्धी विभिन्न कार्य उस समय किये जाने चाहिएं जबकि जलवायु, चराई और बाजार की स्थिति अनुकूलतम हो।

भेड़ें यथासम्भव प्राकृतिक जीवनयापन करना पसन्द करती हैं। इन्हें किसी प्रकार की विशेष सुविधाओं की आवश्यकता नहीं होती। ये खुले आकाश के तले रहने तथा सोने के लिए शुष्क जमीन पसन्द करती हैं। परन्तु रात के समय जंगली जानवरों तथा खराब मौसम से इनके बचाव की व्यवस्था की जानी चाहिए। सामान्यत: एक मामूली सा खुला बाड़ा, जिसके चारों ओर सूखी और कांटेदार बबूल की शाखाओं की बाड़ लगी हो तथा जिसका कुछ भाग छप्पर से ढका हो, अच्छा काम दे जाता है। प्रति भेड़ एक से दो वर्गमीटर स्थान की व्यवस्था की जानी चाहिए।

ऊन उतारना

खराब मौसम से बचाव के लिए ऊन भेड़ का स्वाभाविक कवच है। इसलिए ऊन उसी समय उतारी जानी चाहिए जब मौसम न तो बहुत ठण्डा हो और न ही बहुत गर्म। तेज वर्षा के साथ चलने वाली ठण्डी हवाएं ऐसी भेड़ का स्वास्थ्य खराब कर देंगी जिसकी ऊन हाल ही में उतारी गयी हो। वर्षा ऋतु के अन्त में अथवा ग्रीष्म के प्रारम्भ में ही भेड़ों से ऊन उतारी जाती है। अनेक स्थानों पर तो भेड़ों की ऊन वर्ष में दो बार उतारी जाती है।

ऊन उतारने से पहले प्राय: भेड़ को धोया जाता है। परन्तु ऊन उतारना शुरू करने से पहले भेड़ों को अच्छी तरह से सुखा लेना चाहिए। साफ, शुष्क और धूलरहित स्थान पर ही भेड़ से ऊन उतारी जानी चाहिए। अलग अलग किस्मों की ऊन को मिलाया नहीं जाना चाहिए। टांगों, पेट और जंघाओं के बाल मिल जाने से ऊन की किस्म घटिया हो जाती है। तेजी से और एकसम काटने के लिए तेज फलकों वाली अच्छी किस्म की उपयुक्त प्रकार की कैंची इस्तेमाल की जानी चाहिए।

ऊन के रेशों का मूल्यांकन उनकी लचक और एकसमता को देखकर किया जाता है। सामान्यत: ऊन जितनी ही बढ़िया किस्म की होगी, रेशे की लम्बाई उतनी ही कम होगी। भारत में पायी जानेवाली अधिकांश ऊन बालोंवाली और मोटी है। यह ऊन प्राय: रंगीन होती है और अच्छा कपड़ा बनाने के लिए उपयुक्त नहीं होती। यद्यपि विश्व में भारत को उच्च किस्म की कालीन -ऊन का श्रेष्ठतम उत्पादक माना जाता है। भारत में एक भेड़ से एक वर्ष में प्राप्त होने वाली ऊन की मात्रा 300 ग्राम से लेकर 1,800 ग्राम तक होती है। एक भेड़ से प्राप्त होने वाली ऊन की औसत मात्रा 700 ग्राम है।

भेड़ की उम्र का निर्णय करना

भेड़ की उम्र का अनुमान उसके दांतों से किया जा सकता है। भेड़ के आठ दांत और 24 चर्वण दांत होते हैं। दांत केवल निचली दन्त गद्दी पर ही होते हैं। दूध पीने की आयु में मेमने के आठ दांत होते हैं। ये जन्म के पहले महीने ही प्रकट हो जाते हैं। 12 से 14 मास की

आयु में दूध के दांतों का स्थान दो केन्द्रीय स्थायी दांत लेने लगते हैं। 24 से 26 मास की आयु में स्थायी दांतों की दूसरी जोड़ी निकलती है। 36 मास की उम्र में तीसरी जोड़ी प्रकट होती है। स्थायी छेदक दांतों की चौथी जोड़ी चार वर्ष की आयु में बनती है। इसके बाद तो आयु का अनुमान दांतों के घिसने को देखकर और उनके रंग उड़ने की मात्रा को देखकर ही लगाया जा सकता है।

भेड़ों के सामान्य रोग

भेड़ें अनेक रोगों से आक्रान्त होती हैं। भेड़ को होनेवाली अधिकांश बीमारियां तो प्रबन्ध अच्छा न होने के कारण पैदा हुई खराबियों से ही होती हैं।

अधिक संख्या, नीची, गीली भूमियों पर चरना, पर्यावरण तथा खुराक में एकाएक परिवर्तन होना भेड़ों की बीमारियों के कुछेक मुख्य कारण हैं। भेड़ें प्राय: भीतरी और बाहरी, दोनों तरह के, उपजीवियों से भी आक्रान्त होती हैं। बाहरी उपजीवियों से नियन्त्रण के लिए उपयुक्त फुहारों, चूर्ण और धोने के अच्छे द्रवों का उपयोग आवश्यक होता है। चरागाह का प्रबन्ध सुधारकर और भेड़ों को स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रखकर भीतरी उपजीवियों को नियन्त्रित किया जा सकता है।

अन्य पालतू जानवरों की भांति भेड़ों में बीमारी के चिह्न आसानी से पहचाने नहीं जा सकते। भेड़ बहुत अधिक बीमार होती है तो भी अपनी नित्यचर्या तो यह पूरी करती ही है। भेड़ की चालढाल को बहुत सावधानी से देखकर ही यह पता चलता है कि वह बीमार है। भेड़ के बीमार होने के विशिष्ट चिह्न हैं: ऊंचा तापमान, जुगाली बन्द कर देना, कठिनता से सांस ले पाना, खांसी, छींक मारना, अतिसार और ढीले ढाले तरीके से चलना। भेड़ों में रोग का संक्रमण बड़ी तेजी से होता है। रेवड़ों में रहने की उनकी प्रवृत्ति के कारण ही ऐसा होता है। इसलिए रोग का संक्रमण होने पर तुरन्त ध्यान देना आवश्यक होता है।

स्वस्थ भेड़ का सामान्य तापमान 39.4 दर्जे सेल्सियस (103 दर्जे फॉरनहीट) होता है। नाड़ी दर 68 से 90 तक के बीच होती है और श्वसन दर 20 से 30 प्रति मिनट के बीच।

भेड़ों को होने वाले सामान्य संक्रामक रोग हैं: गलघोटू, गिल्टी अथवा एन्थ्रेक्स, चेचक और लंगड़ी।

गलघोटू: भेड़ों को होनेवाला यह रोग बहुत संक्रामक है। इस रोग से आक्रान्त होने पर भेड़ें एक के बाद एक करके बड़ी तेजी से मरने लगती हैं। इस रोग के मुख्य लक्षण हैं: सरसराहट की अवाज के साथ सांस लेना, ऊंचा तापमान, अतिसार और गले में सूजन।

इस बीमारी को रोकने के लिए सामान्य रोगनिरोधक सावधानियां बरती जानी चाहिएं। रोगपीड़ित जानवर को तुरन्त ही अलग कर दिया जाना चाहिए। भेड़ को बीमारी से बचाने के लिए टीका भी लगा दिया जाना चाहिए।

गिल्टी: यह भेड़ों का अत्यन्त घातक संक्रामक रोग है। ऊन के कारखानों में काम करने वाले कर्मचारियों को सांस के जरिये यह रोग हो सकता है। क्षतों के जरिये भी इस रोग का संक्रमण होता है। गिल्टी रोग के मुख्य लक्षण हैं: अधिक तापमान और गले तथा जीभ में

सूजन। संक्रमण के तुरन्त बाद लगभग छ: घण्टे के भीतर ही जानवर की मौत हो जाती है।

इस रोग से बचाव के उपाय हैं: रोगपीड़ित जानवर को अलग कर देना, शव को उचित तरीके से ठिकाने लगा देना और इस रोग के मौसम से पहले ही टीके लगा देना।

चेचक : यह सामान्य रोग है। कई क्षेत्रों में यह रोग स्थानिक महामारी का रूप धारण कर लेता है। मेमनों के लिए तो यह रोग प्राय: घातक सिद्ध होता है। इस रोग के मुख्य लक्षण हैं: मुंह में, पिछली टांगों में हवाने के बीच तथा हवाने में दाने पैदा हो जाना; तापमान का अधिक होना तथा भूख का कम होना।

रोग से बचाव के लिए टीके लगवाना, पीड़ित जानवर को अलग कर देना और स्वास्थ्यकर सावधानियां बरती जानी चाहिएं।

लंगड़ी : यह भेड़ों का एक सामान्य रोग है। यह रोग प्रसव के बाद अथवा ऊन उतारने के समय हुए किसी घाव में संक्रमण से हो जाता है। लंगड़ाना और ऊंचा तापमान इस रोग के मुख्य लक्षण हैं।

इस रोग से आक्रान्त होने पर जानवर प्राय: नहीं बचते। इसका तो एकमात्र इलाज यही है कि रोग से बचाव के लिए पशु को टीके लगा दिये जायें।

3. बकरियां

परिचय

विश्व के सभी देशों में बकरी निर्धनों के लिए गाय के समान उपयोगी मानी जाती है। स्विट्जरलैण्ड में तो दुधारू बकरी को बच्चों की धर्म माता कहते हैं। बकरी बहुत जल्दी अपने को किसी भी जलवायु के अनुकूल बना लेती है। यह कठोर श्रम कर सकती है और कठिन जलवायु सह लेती है। बकरियों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है। इन्हें पालने में अधिक व्यय भी नहीं करना पड़ता। बकरी ऐसा चारा खा लेती है जिसे खाते रहने पर और पशु तो भूखों मर जायें। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकतर भूमिहीन श्रमिकों ने बकरी पालन को पेशे के रूप में अपनाया हुआ है।

बकरी का दूध अत्यन्त स्वाध्यप्रद और पौष्टिक होता है। सहज पाचक होने के कारण बच्चों और दुर्बल व्यक्तियों के लिए तो यह विशेष रूप से उपयुक्त माना जाता है। भारत में 1991 में अनुमानत: 20 लाख टन बकरी के दूध का उत्पादन हुआ था, जबकि समस्त विश्व का कुल दुग्ध उत्पादन मात्र 100 लाख टन था।

भारत में मांस का मुख्य स्त्रोत बकरी ही है। अन्य पशुओं की तुलना में बकरी का मांस अधिक पसन्द किया जाता है। अधिकतर शहरों में भेड़ मांस और गौ मांस की तुलना में बकरी के मांस की कीमत अधिक लगती है। खाद्य एवं कृषि संस्थान के आंकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत में 1991 में 586 हजार मीट्रिक टन बकरी तथा भेड़ के मांस का उत्पादन किया गया जिसकी कीमत 2,300 करोड़ रुपये आंकी गयी।

दस्तानों और जूतों के लिए बकरी के चमड़े की मांग बहुत है। 1959-60 में 3 करोड़ 3 लाख खालों का उत्पादन हुआ। इनका मूल्य 13 करोड़ 17 लाख रुपये था। अंगोरा जाति की बकरियों के मोहेर और कश्मीरी बकरियों के पश्मीने को शाल तथा बढ़िया गर्म कपड़े बनवाने के लिए बहुत अच्छा माना जाता है। भारत में 1959-60 में 4,516 मीट्रिक टन बकरी के बालों का उत्पादन हुआ था जिसका मूल्य तत्कालीन कीमतों के आधार पर 1 करोड़ 19 लाख रुपये बैठता था। 1991 के उत्पादन आंकड़े पहले की अपेक्षा दोगुने हैं। बकरी की आंतें तांत बनाने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। बकरी के बाल रस्सी बनाने के काम आते हैं।

बकरी में वृक्षों की कोंपलें चबाने और हर किस्म के पौधों में मुंह मारने की आदत होती है। इसलिए बकरी को वनस्पतियों का शत्रु और भूक्षरण का कारण माना जाता है। परन्तु बकरी की इस विनाशक आदत का मुख्य कारण इसके पालन का कुप्रबन्ध है। बकरियों का पालन उचित ढंग से करने पर इनकी खाने की आदतों में अभीष्ट परिवर्तन किया जा सकता है।

1991 में विश्व में, 57 करोड़ 40 लाख बकरियां थीं, जिनमें से 11 करोड़ 20 लाख बकरियां भारत में थीं। 1977 में 7 करोड़ 56 लाख बकरियां थीं, जो 1982 में बढ़कर 9 करोड़ 53 लाख हो गईं।

1982 में राज्यवार बकरियों की संख्या इस प्रकार थी : आंध्रप्रदेश में 55 लाख 60 हजार, असम में 17 लाख 30 हजार, बिहार में 1 करोड़ 22 लाख 20 हजार, गुजरात में 33 लाख, हरियाणा में 6 लाख 10 हजार, हिमाचलप्रदेश में 10 लाख 60 हजार, जम्मू और कश्मीर में 10 लाख, कर्नाटक में 45 लाख 50 हजार, केरल में 20 लाख, मध्य प्रदेश में 75 लाख 70 हजार, महाराष्ट्र में 77 लाख, उड़ीसा में 49 हजार, पंजाब में 7 लाख 30 हजार, राजस्थान में 1 करोड़ 54 लाख 80 हजार, तमिलनाडु में 52 लाख 50 हजार, उत्तर प्रदेश में 96 लाख 90 हजार और पश्चिमी बंगाल में 1 करोड़ 9 लाख 20 हजार।

बकरियों की प्रमुख नस्लें

भारत में बकरियों की अनेक नस्लें हैं। इनमें कुछ नस्लें प्रमुख हैं: कश्मीरी, गद्दी, चम्बा, पश्मीना, जमनापरी, बीतल, मारवाड़ी, उस्मानाबादी, बारबरी, मलाबारी और बंगाली।

कश्मीरी : कश्मीरी बकरियां कश्मीर के पहाड़ी भू भाग और तिब्बत में पायी जाती हैं। ये प्राय: आर्द्र जलवायु वाले प्रदेशों अथवा मैदानी भू भागों में फूलती फलती नहीं हैं। ये कठोर शीत सह सकती हैं। इनका रंग प्राय: सफेद अथवा काला और सफेद होता है। इनके सींग लम्बे और वक्र तथा कान लम्बे होते हैं। इनका शरीर बढ़िया महीन रेशमी बालों से ढका होता है। इन बालों के नीचे समूर की तरह का एक आवरण होता है जो बहुत ही सुकोमल और गर्मी देने वाला होता है। इसे 'पश्मीना' कहते हैं। यह आवरण सर्दियों के महीने में बढ़ता है और वसन्त में उतर जाता है। आठ से दस दिन तक बकरियों पर से यह आवरण उतारा जाता है और इकट्ठा कर लिया जाता है। लम्बे रेशमी बाल बाद में काटे जाते हैं। लम्बे बाल प्राय: रस्सियां और नमदा बनाने के काम आते हैं। ये बकरियां प्राय: भार ढोने अथवा मांस प्राप्त करने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। ये दूध बहुत कम देती हैं।

गद्दी और चम्बा: इस नस्ल की बकरियां कांगड़ा घाटी और हिमाचलप्रदेश में चम्बा, सिरमौर और शिमला की निकटवर्ती हिमालय पर्वतश्रृंखला में पायी जाती हैं। इस नस्ल की बकरियां सुगठित शरीर की होती हैं। ये काफी हृष्ट पुष्ट भी होती हैं और काफी दूर तक चल लेती हैं। इन बकरियों की थूथनी नुकीली, आंखें सतर्क, रोमन जातीय सुडौल नासिका और लम्बे तथा झूलते हुए नोकदार कान होते हैं। इनके नुकीले सींग ऊपर तथा पीछे की तरफ झुके होते हैं। इनकी खाल मोटी और लम्बे बालोंवाली होती है। रंग इनका आमतौर पर सफेद होता है, परन्तु धूसर और लाल रंग की बकरियां भी पायी जाती हैं। इन बकरियों का अयन होता तो छोटा है परन्तु बहुत अच्छी तरह से जमा हुआ और नुकीले थनवाला होता है। इनका मांस वसा रहित घटिया किस्म का होता है।

पश्मीना बकरियां: ये आमतौर पर लद्दाख, पंजाब की लाहौल और स्पीति घाटियों, हिमाचलप्रदेश में चीनी घाटी और उसके आसपास के प्रदेश में मिलती हैं। इन बकरियों के बड़े बड़े झुण्ड बारह से चौदह हजार फुट तक की ऊंचाई पर चांग-थांगक्षेत्र में भी पाये जाते हैं।

पश्मीना बकरी छोटा सा नाजुक व फुर्तीला जानवर है। इसकी पीठ का पिछला भाग समतल

होता है और उसमें बहुत कम अवनमन होता है। कान लम्बे और झूलते हुए होते हैं। चेहरे का अधिकांश भाग मोटे बालों से ढका होता है। लम्बा और अधिक बढ़िया किस्म का पश्मीना तो कन्धों के दोनों तरफ होता है। अधिकतर बकरियों का रंग सफेद होता है परन्तु बादामी और धूसर रंग की बकरियां भी पायी जाती हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में और विशेषकर अधिक ऊंचाइयों पर ये बकरियां परिवहन के काम में इस्तेमाल की जाती हैं।

जमनापारी: इस नस्ल की बकरी मुख्य रूप से गंगा, यमुना और चम्बल नदियों के बीच के इलाके में पायी जाती है। विशुद्ध इसी नस्ल की बकरियां उत्तरप्रदेश के इटावा जिले में भी पायी जाती हैं। ये बकरियां दो काम आती हैं। इनमें मांस देनेवाली और दूध देनेवाली बकरियों की विशेषताएं होती हैं। ये काफी हृष्ट पुष्ट और फुर्तीली होती हैं। ये गांवों की कठोर परिस्थितियों में खूब फलती फूलती हैं।

भारतीय नस्लों की बकरियों में इस नस्ल की बकरियां सम्भवत: सबसे सुन्दर होती हैं। इनका शरीर बड़ा, सींग छोटे तथा चपटे और कान लम्बे-चौड़े तथा झूलते हुए होते हैं। इनकी नाक स्पष्ट रूप से रोमन जातीय होती है। इनके अयन और थन बड़े होते हैं।

बीतल: यह नस्ल मुख्य रूप से पंजाब में पायी जाती है। इस नस्ल की बकरियां, जमनापारी नस्ल से मिलती जुलती हैं परन्तु इनका आकार कुछ छोटा होता है। इन बकरियों की संख्या बहुत जल्दी बढ़ती है। ये दूध भी काफी मात्रा में देती हैं। ये पौधों की जड़ों की शौकीन होती हैं और चरागाहों में खूब फलती फूलती हैं।

जमनापारी नस्ल की तरह बीतल नस्ल की बकरियों के भी लम्बे और झूलते हुए चपटे कान और रोमन जातीय नाक होती है। इनके सींग वक्र होते हैं और उनमें बाहर की तरफ बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। बकरों की प्राय: अच्छी खासी दाढ़ी होती है। आमतौर पर इन बकरियों का रंग लाल अथवा बादामी होता है। इन रंगों के धब्बे प्राय: सफेद पृष्ठभूमि पर होते हैं।

मारवाड़ी बकरियां: राजस्थान के मारवाड़ क्षेत्र में होती हैं। ये काफी मजबूत होती हैं और जल्दी से रोगी नहीं होतीं। ये मांस के कारण अधिक पसन्द की जाती हैं।

मारवाड़ी बकरियों का कद मध्यम और थुथनी छोटी होती है। नाक की हड्डी काफी मजबूत होती है। गर्दन इनकी भारी होती है। कान मांसल, सींग मुड़े हुए और नुकीले होते हैं। जबड़े पर घनी दाढ़ी होती है। दुम ऊपर की तरफ वक्र होती है और उस पर खड़े बालों का एक गुच्छा होता है। शरीर के बाल गहरे काले और चमकीले होते हैं।

उस्मानाबादी: इस नस्ल की बकरियां मुख्य रूप से आन्ध्रप्रदेश के उस्मानाबाद जिले में होती हैं। इन बकरियों का आकार बड़ा होता है। ये दूध और मांस, दोनों के लिए ही उपयोगी मानी जाती हैं। इनके सींग लम्बे होते हैं। आमतौर पर इनका रंग काला होता है यद्यपि सफेद-काले अथवा सफेद-लाल रंग की बकरियां भी पायी जाती हैं।

बारबरी: ऐसा माना जाता है कि इस नस्ल की बकरियों का मूल स्थान पूर्व अफ्रीका में ब्रिटिश सोमालीलैण्ड का बेरबरा प्रदेश है। भारत में ये बकरियां उत्तरप्रदेश के इटावा, एटा, आगरा और मथुरा आदि नगरों में पायी जाती हैं। यह नस्ल मुख्य रूप से तो दूध देनेवाली

है। छोटे आकार की होने के कारण इस नस्ल की बकरियां मांस उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं हैं। बारबरी बकरी आदर्श पालतू पशु है। इसका कारण यह है कि इनका आकार छोटा होता है और ये बड़ी सफाई पसन्द होती हैं। ये दब्बू भी बहुत होती हैं। इन्हें बांधकर नांद में चारा खिलाया जा सकता है। इन बकरियों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है।

इन बकरियों के कान पतले, छोटे, और सीधे खड़े होते हैं। इनकी टांगें छोटी तथा हड्डियों वाली होती हैं। इनकी खाल बहुत उम्दा व छोटे छोटे रेशमी बालों वाली होती है। इनका अयन अच्छा खासा गोल और थन मध्यम आकार के होते हैं। इनका कोई विशेष रंग तो नहीं है परन्तु आमतौर पर इन पर हल्के पीलापन लिये बादामी, गहरे लाल अथवा काले धब्बे होते हैं।

मलाबारी: ये बकरियां मुख्य रूप से उत्तर-केरल के मलाबार प्रदेश में पायी जाती हैं। प्रतीत होता है कि यह नस्ल शताब्दियों पूर्व अरब व्यापारियों द्वारा लायी गयी बकरियों और स्थानीय बकरियों के मेल से पैदा हुई।

इन बकरियों की शक्ल बड़ी आकर्षक होती है। इनका सिर मध्यम आकार का, नाक चपटी तथा कभी कभी रोमन जातीय भी होती है। इनके कान लम्बे होते हैं। इनका कोई एक ही रंग नहीं होता पर सफेद और काले धब्बे प्राय: सभी में पाये जाते हैं। इनका हवाना काफी बड़ा होता है। इन बकरियों में एक वर्ग ऐसा भी है जिसके सींग नहीं होते।

बंगाल: अनन्त काल से बंगाल में पायी जाती है। इस नस्ल की बकरियां बढ़िया मांस के लिए प्रसिद्ध हैं। इनसे दूध बहुत कम मिलता है।

बंगाल नस्ल की बकरियों का आकार बहुत छोटा होता है। शरीर भारी, पीठ सीधी और कन्धे तथा नितम्ब बराबर की ऊंचाई के होते हैं। छाती चौड़ी और टांगें छोटी होती हैं। कान लगभग सीधे खड़े होते हैं। इनका रंग गहरा काला होता है। इनकी खाल बहुत बढ़िया किस्म की होती है और भारत में तथा विदेशों में इनकी बहुत मांग रहती है।

भारत में प्रचलित मुख्य विदेशी नस्लें हैं: **टागनबर्ग, एल्पाइन, एंग्लोनूबियन, सानेन** और **अंगोरा**। ये नस्लें भी खूब फल फूल रही हैं। स्थानीय बकरियों की नस्लें सुधारने के लिए इन विदेशी नस्लों के बकरों की काफी मांग है।

टागनबर्ग: बड़े आकार की बकरी है और अधिक मात्रा में दूध देने के लिए विख्यात है। यह हल्का पीलापन लिये बादामी रंग की होती है और इस पर सफेद अथवा क्रीम रंग के चिह्न होते हैं। **एल्पाइन** नस्ल की बकरी टागनबर्ग नस्ल की बकरी से मिलती जुलती है परन्तु इसका रंग काला होता है। **एंग्लोनूबियन** मूलत: एशियाई नस्ल की बकरी है। इसके बड़े बड़े झूलते कान होते हैं। इसकी खाल छोटी और उम्दा होती है। **सानेन** बड़े आकार की बकरी है और यह अधिक दूध देने के लिए विख्यात है। यह प्राय: सफेद अथवा क्रीम रंग की होती है। **अंगोरा** नस्ल की बकरियों का मूल स्थान एशिया माइनर और तुर्की है। ये बकरियां 'मोहेर' उत्पादन के लिए विख्यात हैं। 'मोहेर' उम्दा किस्म के ऊनी कपड़े के उत्पादन के लिए अत्यन्त मूल्यवान कच्चा पदार्थ है। 'मोहेर' की बुनावट बड़ी उम्दा होती है। यह बड़ा चमकीला दिखायी देता है और इन बकरियों के शरीर पर लम्बे सफेद सर्पिल आकार अथवा वलयों में ढीला ढाला लटका रहता है।

दुधारू बकरियों का चयन

अच्छा दूध देने वाली बकरी का शरीर लम्बा, भारी और मेखाकार होता है। ऐसी बकरी स्वस्थ और फुर्तीली दिखायी पड़ती है और इसकी बड़ी बड़ी चमकदार आंखें होती हैं। इसकी गरदन लम्बी और पतली होती है। अगली टांगों के ठीक पीछे से ही इसका पेट वक्राकार होता जाता है और कूल्हों के नीचे हवाना से सन्धि स्थल पर फिर थोड़ा सा ऊपर की ओर उठा होता है। इसकी पसलियां लचकीली और तनी हुई होंगी। टांगें सीधी, सशक्त और मजबूत हड्डी वाली होंगी और चमड़ी मुलायम तथा चमकीली।

अयन लम्बा तथा नीचे जंघाओं के बीच फैला हुआ और पेट के साथ साथ बढ़ता हुआ होता है। इसे शरीर से अच्छी तरह जुड़ा होना चाहिए। इसकी बनावट मुलायम और स्पंज के समान होनी चाहिए। दूध दुहने के बाद यह ढलक जाता है और छोटा हो जाता है। थन मध्यम आकार के एकसम और आगे की ओर झुकाव लिए होने चाहिएं। उनका झुकाव बाहर की तरफ नहीं होना चाहिए। दुग्ध शिराएं बड़ी और उभरी हुई होनी चाहिएं।

अच्छा बकरा वह होता है जिसकी आकृति से पुंसत्व और शक्तिमत्ता टपकती हो। उसका शरीर खूब लम्बा और भारी हो। छाती उभरी और चौड़ी होनी चाहिए और पसलियां सुगठित। पिछली टांगों के घुटने काफी दूर दूर होने चाहिएं। टेंटुए काफी बड़े और ढीले ढाले लटकते नहीं होने चाहिएं। ये ऊपर सटे होने चाहिएं। टांगें सीधी और पांव मजबूत होने चाहिएं। दुधारू बकरियों की नस्ल सुधारने के लिए ऐसे बकरे का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए जिसकी मां पर्याप्त दूध न देती रही हो।

प्रजनन व पालन पोषण

बकरियों में कम आयु में ही प्रजनन योग्य हो जाने की प्रवृत्ति रहती है। 15 से 18 मास तक की उम्र गर्भाधान के लिए सर्वश्रेष्ठ रहती है और लगभग दो वर्ष की उम्र में उनका पहला बच्चा हो जाना चाहिए। बकरा बहुत कम उम्र में ही काफी लैंगिकता दिखाने लगता है। इसलिए बकरों और बकरियों को दो या तीन महीने की उम्र से ही अलग अलग रखा जाना चाहिए। दो से तीन साल तक की उम्र का बकरा अभिजनन कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ रहता है। परन्तु बारह मास की आयु में भी कुछ सीमित संख्या में बकरियों से उसका मेल कराया जा सकता है। सुगठित शरीर वाला बकरा यदि स्वस्थ रखा जाये तो वह प्रतिवर्ष 75 से 100 बकरियों तक के लिए पर्याप्त हो सकता है। अच्छे बकरे दस वर्ष की उम्र तक अभिजनन के उपयुक्त बने रहते हैं। बकरियों की प्रजननशक्ति 5 से 7 वर्ष के बीच की अवधि में अधिकतम होती है। बकरी की औसत आयु लगभग 12 वर्ष होती है।

प्रसव के 6 से 8 सप्ताह बाद बकरी पुन: गर्भधारण करने लायक हो जाती है। 18 से लेकर 21 दिन के अन्तर से उसे गर्मी आती रहती है। यह गर्भधारण करने के पश्चात् ही शान्त होती है। बकरियों की कुछ नस्लें, जैसे बारबरी इत्यादि, बड़ी आसानी से साल में दो बार प्रसव कर सकती हैं परन्तु अच्छा यही रहता है कि साल में एक प्रसव हो। इससे मेमने

का स्वास्थ्य अच्छा रहता है और बकरी की दूध देने की अवधि बढ़ जाती है।

बकरियों में गर्मी के सामान्य चिह्न वही होते हैं जो गायों और भैंसों में दिखायी देते हैं। बकरी जिस समय गर्मी में होती है तो बड़ी बेचैन हो जाती है और दुम हिलाती हुई विशेष ढंग से मिमियाती है तथा खाना छोड़ देती है। इसके प्रजनन छिद्र में लाली आ जाती है और वह काफी फूल जाता है। दूध की मात्रा एकाएक कम हो जाती है। यह रस्सी तुड़वाने का यत्न भी करने लगती है।

ग्रीष्म में बकरियों में गर्मी एक से तीन दिन तक रहती है। सर्दियों में तो यह अवधि 24 से 36 घण्टे तक ही होती है। लज्जालु नस्ल की बकरियों की गर्मी की अवधि बिना पता लगे ही बीत जाती है। प्रजनन छिद्र में हल्की सी लाली के अतिरिक्त और कोई चिह्न प्रकट नहीं होता। ऐसी बकरियों को सावधानी से ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिए। गर्मी के चिह्न प्रकट होने के दसवें और पन्द्रहवें घण्टे के बीच बकरी का मेल करवा देने से सबसे अच्छे परिणाम निकलते हैं। सामान्य प्रजनन ऋतु में तो प्राय: एक बार का मेल ही काफी रहता है। बकरी में गर्भावस्था की सामान्य अवधि 145 से लेकर 152 दिन तक होती है और औसत अवधि 150 दिन है।

मेल के दो ढाई महीने बाद तक गर्भावस्था के चिह्न प्राय: प्रकट नहीं होते। प्रसव से कुछ दिन पहले अयन फैलने लगता है और स्तन ग्रन्थियां सक्रिय होने लगती हैं। कभी कभी अधिक दूध देने वाली बकरियों को मेमना पैदा होने से पहले कई कई बार दुहना पड़ता है। बच्चा पैदा होने से कुछ घण्टे पहले दोनों पार्श्व खोखले हो जाते हैं। प्रजनन छिद्र से थोड़ा सा स्त्राव निकलता है और वह कुछ फूल जाता है। उसमें हल्की सी लाली पैदा हो जाती है। वह मिमियाने लगती है और जमीन पर पैर मारने लगती है। बकरी लेटे लेटे प्रसव करती है। सामान्य तौर पर मेमना पैदा होते समय उसका सिर अगले पैरों पर पड़ा होता है। सामान्य प्रसव लगभग 45 मिनट में पूरा हो जाता है।

बकरी नये पैदा हुए मेमने के शरीर को जीभ से चाटकर साफ करती है। मेमने के नाक और मुख को ढांपने वाली पतली झिल्ली को कपड़े से साफ कर दिया जाना चाहिए। मेमने की नाभि को ठीक प्रकार से कृमिविहीन किया जाना चाहिए।

जन्म के कुछ मिनट के बाद ही मेमने प्राय: अपनी टांगों पर खड़े हो जाते हैं। इस बात की सावधानी बरती जानी चाहिए कि दोनों थनों से दूध पूरी तरह से और बराबरी से निकाल लिया जाये। लगभग तीन मास की आयु से ही मेमनों से दूध छुड़वा दिया जाता है। विदेशों में तो प्राय: जन्म से ही मेमनों को दूध से हटा दिया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि यह मेमनों को पालने का अधिक स्वास्थ्यप्रद और उत्तम तरीका है। दूध से हटाये गये मेमनों को मानव शिशुओं की भांति बोतल से दूध पिलाया जा सकता है।

बकरियों के दूध देने की अवधि लम्बी होती है। परन्तु दूध देने की यह अवधि मुख्य रूप से नस्ल, स्वास्थ्य और उसके चारे की किस्म पर निर्भर करती है। यदि दूध देने की अवधि लम्बी रखनी है तो एक बच्चा हो जाने के बाद जल्दी ही बकरी को हरा नहीं करवाया जाना चाहिए। गर्भधारण करने की अवधि लगभग मध्य तक पहुंचने पर बकरियां प्राय: दूध देना बन्द कर देती हैं।

प्रोटीन और वसा की प्रतिशत मात्रा की दृष्टि से बकरी का दूध अन्य जानवरों के दूध की तुलना में मनुष्य के दूध से सबसे अधिक मिलता है। बकरी के दूध में शर्करा कुछ कम और भस्मांश मनुष्य के दूध से कुछ अधिक होता है। पाचक अधिक होने के कारण बच्चों, विकलांगों और स्वास्थ्य लाभ कर रहे रोगियों के लिए प्राय: इसका बहुलता से प्रयोग होता है। तपेदिक से बकरियां बहुत मुक्त रहती हैं। इनका दूध इस दृष्टि से काफी सुरक्षित माना जाता है। बकरी के दूध के औसत नमूने में 3.76 प्रतिशत प्रोटीन, 4.07 प्रतिशत वसा, 4.64 प्रतिशत शर्करा, 0.85 प्रतिशत खनिज और 86.88 प्रतिशत जल होता है।

बकरी के दूध की विशेष गन्ध के कारण अनेक लोगों में इसके प्रति अरुचि होती है। परन्तु यदि बकरियों को साफ, स्वस्थ तथा बकरों से दूर रखा जाये तो यह दोष आसानी से दूर किया जा सकता है। बकरे को दूध देने वाली बकरियों से मिलने जुलने भी नहीं दिया जाना चाहिए। अच्छी न लगने वाली अजीब गन्ध बकरे में से ही, विशेषत: गर्भाधान ऋतु में, निकलती है।

बकरियों की खुराक

बकरियों में भोजन की विचित्र सी आदतें हैं। ये निरन्तर अपने चारे को बदलने के फिराक में रहती हैं। बकरियां छोटी छोटी झाड़ियों के पत्ते चबाना पसन्द करती हैं और वृक्षों की टहनियां खाकर खूब फूलती फलती हैं। इन्हें शहतूत, नीम, बेर, बबूल और इमली की टहनियां और पत्ते विशेषतया पसन्द हैं। नयी नयी चरागाहों पर चरने में ही इन्हें आनन्द आता है। बकरियां अपने चारे की सफाई के बारे में बड़ी तुनकमिजाज होती हैं। ये पैरों से कुचले चारे को नहीं खातीं।

जब बकरियों को नांद में ही खिलाया जाता हो तो उन्हें चारा तीन बार दिया जाना चाहिए। पहली बार प्रात:काल, फिर दोपहर में और अन्तिम व तीसरी बार सायंकाल के समय। तीनों समय अलग अलग किस्म के चारे बकरियों की प्रकृति के अनुकूल होते हैं। बकरी को दिये जाने वाले चारे की मात्रा के बारे में कोई पक्का नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। बकरियों को एक समय में इतना ही चारा दिया जाना चाहिए कि वे बड़े शौक से सफा कर जायें। एक बकरी को प्रतिदिन औसतन 3.5 किलोग्राम हरे चारे की आवश्यकता होती है। इसका कुछ भाग सूखे पत्ते अथवा फलीदार चारे की फसलों के भूसे के रूप में दिया जा सकता है। दूध देने वाली बकरी को चना, चोकर, भूसी और खली का लगभग 500 ग्राम का सान्द्रित मिश्रण का राशन भी दिया जाना चाहिए। इस मिश्रण के स्थान पर बबूल अथवा शुष्क भूभागों में पायी जाने वाली झड़बेरी की फलियों का भी आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है। अधिक दूध देने वाली बकरियों को इस मिश्रण की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। गर्भिणी बकरियों को गर्भावस्था के अन्तिम दो महीनों में प्रतिदिन लगभग 225 ग्राम अनाज दिया जाना चाहिए। मेल के मौसम में बकरों को प्रतिदिन 500 ग्राम अनाज का मिश्रण दिया जाना चाहिए।

बकरियों को नियमित रूप से खाना दिया जाना चाहिए। इनका चारा सदैव ताजा और साफ होना चाहिए। चारे में कोई भी परिवर्तन करना हो तो वह धीरे धीरे किया जाना चाहिए। वर्षाकाल के प्रारम्भ में इन्हें नयी और कोमल घास अधिक नहीं खाने देनी चाहिए। बकरियां गीला चारा पसन्द नहीं करतीं।

बकरी के भोजन में खनिज अनिवार्य अंश होता है। बकरी को खिलाने के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण खनिज है कैल्शियम और फॉस्फोरस। बकरियों के चारे में हड्डियों का चूरा शामिल करके ये दोनों खनिज इन्हें दिये जा सकते हैं। जिन बकरियों को नांद में चारा दिया जाता हो, उन्हें चारे के साथ थोड़ी मात्रा में नमक भी प्रतिदिन देते रहना चाहिए।

एक भाग गेहूं का चोकर, दो भाग मक्का, एक भाग अलसी की खली अथवा दो भाग चने का मिश्रण मिलाकर देना बकरियों के लिए उपयुक्त रहता है। मोटे अनाज व खली को बड़ी बारीकी से पीसकर ही बकरियों को खिलाया जाना चाहिए।

बकरियां पानी अधिक मात्रा में नहीं पीतीं। अनेक बकरियों को तो यदि पर्याप्त मात्रा में हरा चारा मिलता रहता है तो ये शायद ही कभी पानी पीती हैं। परन्तु स्वस्थ रखने के लिए बकरियों को ताजा और साफ जल प्रतिदिन प्रात:काल, सायंकाल तथा गर्मियों में दोपहर के समय भी दिया जाना चाहिए। बहते नदी नालों से जल पीना बकरियां पसन्द करती हैं।

बकरियों को रखने का स्थान

गांवों में तो बकरियों को रखने के लिए प्राय: कोई विशेष व्यवस्था आवश्यक नहीं होती। हां, खराब मौसम, जंगली जानवरों और नाशक जीवों से इनके बचाव की व्यवस्था तो की ही जानी चाहिए। बकरियों को ठण्ड जल्दी ही लग जाती है। सर्दियों में तो विशेष रूप से उन्हें आरामदेह गर्म स्थान पर रखा जाना चाहिए। बकरियों को रखने के स्थान अधिक महंगे तो नहीं होने चाहिएं परन्तु साफ, हवादार तथा नमी और अन्धड़ों से सुरक्षित होने चाहिएं। बकरी को जहां रखा जाये, उस स्थान से जल निकास की भी सदा ठीक व्यवस्था होनी चाहिए।

मेमनों को रखने की जगह गर्म होनी चाहिए, विशेष रूप से ठण्डे मौसम में तो इसका ध्यान रखा ही जाना चाहिए। बकरों को दूध देने वाली बकरियों से अलग रखा जाना चाहिए ताकि इनके दूध से विशेष प्रकार की जो गन्ध प्राय: आती है, वह पैदा न हो।

सामान्य प्रबन्ध

ऐसे सभी नर मेमनों को, जिन्हें नस्ल सुधारने के लिए इस्तेमाल न किया जाना हो, छोटी उम्र में बधिया करवा दिया जाना चाहिए। उन्हें 10 से 12 सप्ताह तक की उम्र से पहले ही बधिया करवाना अच्छा रहता है। छोटे आकार का 'बरडिजो' बधिया यन्त्र इस आपरेशन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त रहता है। इसका प्रयोग करने के लिए किसी विशेष कौशल या अनुभव की आवश्यकता भी नहीं होती। यह यन्त्र विशेष रूप से भेड़ और बकरियों के लिए ही होता है। बधिया किये गये नर मेमने का वजन बड़ी तेजी से बढ़ता है और उसमें से अजीब गन्ध भी नहीं आती। बधिया करवा देने से मांस भी बढ़िया किस्म का प्राप्त होता है।

बकरियों को दिन में प्राय: दो बार दुहा जाता है, परन्तु प्रात: और सायं के दोहन के बीच की अवधि का अन्तर, जहां तक सम्भव हो, बराबर होना चाहिए। पीछे बैठ करके अथवा बायीं ओर बैठ करके बकरी को दुहा जाता है। बायीं ओर बैठकर बकरी को अधिक सफाई से दुहा जा सकता है और यह सुविधाजनक भी अधिक रहता है। बकरियों को बड़ी मृदुता

से, शीघ्रता से और अच्छी तरह दुहा जाना चाहिए। दोनों ही थनों को एकसम दुहा जाना चाहिए। दुहने में सफाई बहुत बरतनी चाहिए। दुहने से पहले दुहने वाले व्यक्ति को अपने हाथ अच्छी तरह धो लेने चाहिएं। अयन तथा थनों को साफ करके गीले कपड़े से पोंछ लेना चाहिए। बर्तन को अच्छी तरह से साफ करके धो लेना चाहिए। दोहने का स्थान सदा ही साफ और सूखा रखना चाहिए।

बकरियों में रेवड़ बनाने की सहज प्रवृत्ति भेड़ों की तुलना में बहुत कम होती है। इसलिए यह ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ले जाते समय अथवा चरते समय ये अपने रेवड़ से बिछुड़ न जायें।

बकरियों को प्रतिदिन नरम ब्रुश से रगड़ा जाना चाहिए। इससे बकरी साफ रहती है और उसकी चमड़ी पर चमक आती है। बकरियों का शरीर रगड़ने से रुधिर संचरण तेज होता है और स्वास्थ्य सुधरता है।

जिन नस्लों के बकरों के बाल लम्बे होते हैं, आमतौर पर उनके बाल काटकर छोटे कर दिये जाते हैं। इससे उन्हें साफ रखने में सहायता मिलती है। उनका चेहरा और आगे वाली टांगें प्रतिदिन धोयी जानी चाहिएं क्योंकि उनमें प्रायः अपनी अगली टांगों और चेहरे पर पेशाब डालने की आदत होती है।

बकरियों को जब नांद में ही बांधा जाता है तो उनके पांवों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है। इनके खुरों की महीने में कम से कम एक बार तो काट-छांट करनी ही चाहिए ताकि ये तली के स्तर पर आ जायें। इसके लिए खुर क्लिपर इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

बकरियों के सामान्य रोग

अन्य पालतू जानवरों के विपरीत बकरियों में चिन्ताजनक बीमारियां अपेक्षतया कम ही होती हैं। फिर भी बकरियों में उपजीवी संक्रमण प्रायः हो ही जाता है जिससे बकरियों की मृत्यु दर काफी अधिक रहती है।

बकरियों के रोगी होने के सामान्य लक्षण हैं: ये निढाल हो जाती हैं, तापमान बढ़ जाता है, सांस जल्दी जल्दी चलने लगती है, नाड़ी की गति बढ़ जाती है, भूख कुछ कम हो जाती है, चबाना बन्द हो जाता है और दूध की मात्रा में एकाएक कमी हो जाती है।

बकरी का सामान्य तापमान 39.4 डिग्री सेल्सियस (103 डिग्री फॉरनहीट) होता है। नाड़ी की औसत गति 68 से लेकर 90 तक होती है और श्वसन गति 20 से 30 तक प्रति मिनट।

बकरियों में सबसे अधिक पायी जाने वाली छूत की बीमारीयां हैं: गिल्टी रोग (एन्थ्रेक्स), चेचक, प्लूरो-निमोनिया और पांव तथा मुख-रोग।

गिल्टी रोग (एन्थ्रेक्स): यह एक चिन्ताजनक रोग है। यह बकरियों को प्रायः हो जाता है। यह बीमारी बड़ी तेजी से और एकाएक होती है। इस रोग का संक्रमण होने के कुछ मिनट के भीतर ही बकरी मर जाती है। रोगाक्रान्त बकरी का तापमान बढ़ जाता है। जब इस रोग का भीषण प्रहार होता है तो बकरी लड़खड़ाने और कांपने लगती है। इसे सांस लेने में दिक्कत होने लगती है। शरीर के प्राकृतिक छिद्रों में रुधिर स्त्राव होने लगता है और थपेड़े आने लगते हैं।

इस रोग से बचाव के लिए रोगरोधी टीका लगाया जा सकता है और जिन चरागाहों में रोग फैला हो, उन पर हल चलाकर उन्हें लगभग दो मास के लिए खुला छोड़ दिया जाता है। मरी हुई बकरी का शरीर जला दिया जाना चाहिए अथवा अनबुझे चूने की परत से ढांपकर गहरा दबा देना चाहिए। यह बीमारी मनुष्यों को भी लग सकती है, इसलिए इस रोग से पीड़ित बकरी की देखभाल में काफी सावधानी बरतनी चाहिए।

चेचक : यह बहुत ही संक्रामक रोग है और बकरियों में प्राय: फैल जाता है। इसके मुख्य लक्षण तो हैं: तापमान का बढ़ जाना, फुंसियों का प्रकट होना और बाद में फफोले बनना। ये फफोले और फुंसियां आमतौर पर जंघाओं की भीतरी सतह, अयन और थनों पर और दुम के निचले भाग पर होती हैं। बकरी दुहने वाले व्यक्ति के हाथों की अंगुलियों पर भी इस बीमारी के कारण घाव हो सकते हैं।

रोगपीड़ित बकरी को अलग कर दिया जाना चाहिए। इसका दूध मनुष्य के लिए इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए और जमीन पर गिरने वाली पपड़ी को जला दिया जाना चाहिए।

संक्रामक प्लूरो-निमोनिया : यह छूत का रोग है और इसकी विशेषता यह है कि इसमें बकरी को निमोनिया और प्लूरोटिक हो जाता है। यह रोग बकरियों में ही होता है और काफी चिन्ताजनक है। यह किसी भी आयु की बकरी को हो सकता है।

इस रोग से पीड़ित बकरी खांसने और छींकने लगती है। इसे सांस लेने में कठिनाई होने लगती है। इसकी नाक से स्त्राव अधिक बढ़ जाता है जिसमें कभी कभी रुधिर भी होता है।

इस रोग से बचाव का तरीका यही है कि रोग से पीड़ित जानवर को अलग कर दिया जाये और इस बीमारी को रोकने के लिए टीके लगाये जायें।

पांव और मुख रोग : आमतौर पर वर्षा ऋतु में होता है। यह बीमारी बड़ी शीघ्रता से बकरियों में फैलती है। इसके विशेष लक्षण हैं मुख की श्लेष्मक झिल्लियों पर और पांव की फटान के बीच व ऊपर की चमड़ी पर फफोले पड़ना। ओठों को आवाज करके खोलना व बन्द करना, मुख से लार निकलने लगना और लंगड़ाने लगना। कभी कभी तो पेचिश और निमोनिया भी हो जाता है।

रोगपीड़ित बकरी को पृथक् कर दिया जाना चाहिए। मुख और पांव के घावों का अच्छी तरह से इलाज किया जाना चाहिए और बकरियों के रेवड़ का आना जाना सीमित कर दिया जाना चाहिए।

4. सूअर

परिचय

पालतू पशुओं में सूअर संख्या में शीघ्रतम बढ़ने वाले और जल्दी बड़े हो जाने वाले पशु हैं। दस सूअरी और एक सूअर प्रथम वर्ष में लगभग 160 बच्चे देते हैं।

सूअर मोटे अनाज के उपोत्पादों का पूरा और समुचित उपयोग कर सकते हैं। शरीर के प्रति किलोग्राम वजन के हिसाब से सूअरों को कहीं कम चारे की आवश्यकता होती है। हेम, बेकन, सॉसेज तैयार करने के लिए सूअर के मांस की बहुत मांग रहती है।

कम पूंजी लगाकर सूअर पालन से बड़ी जल्दी लाभ उठाया जा सकता है। सूअरों से अधिक खालें प्राप्त होती हैं। सूअर मांस उच्च किस्म की प्रोटीनों से युक्त खाद्य पदार्थ है। अन्य मांसों की तुलना में इसमें ऊर्जा की मात्रा अधिक होती है।

भारत में सूअर पालन

भारत में सूअर पालन और सूअर मांस उद्योग बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में है। सूअर पालन का धन्धा तो लगभग बिल्कुल ही पिछड़े वर्गों के लोगों और निर्धन लोगों के पास है। इन लोगों के पास साधन बहुत कम हैं। ये सूअर पालन में पुराने और प्रारम्भिक तरीकों का ही उपयोग करते चले आ रहे हैं।

भारत में गांवों में पाया जाने वाला सामान्य सूअर निकम्मा जानवर है। इसकी कोई निश्चित विशिष्टताएं नहीं होतीं। यह धीमी गति से बड़ा होता है। उसका मांस बहुत घटिया किस्म का होता है। इसका आकार छोटा होता है और एक प्रसव में यह कम बच्चे पैदा करता है। प्रबन्ध के वर्तमान तरीकों में तो गांवों में सूअरों की उपेक्षा ही की जाती है। आर्थिक दृष्टि से लाभकारी जानवर के रूप में बढ़ने के पर्याप्त अवसर इन्हें नहीं मिलते। पिछले कुछ वर्षों में भारत में अनेक सूअर पालन केन्द्र खुले हैं जहां सुधरे तरीकों पर सूअर पालन होता है तथा सूअर मांस का उत्पादन आधुनिक तरीकों से किया जाता है।

भारत में 1977 में 76 लाख सूअर थे। 1972 की तुलना में यह संख्या 7 लाख और 1966 की तुलना में 18 लाख 60 हजार अधिक थी। 1972 की पशुगणना के अनुसार कुल 69 लाख सूअर थे, जिससे 1977 की गणना में 4.2 प्रतिशत की वृद्धि दिखाई पड़ी।

1977 में 96 लाख 40 हजार सूअर थे। इनमें से आन्ध्रप्रदेश में 8 लाख, असम में 5 लाख, बिहार में 9 लाख, मध्य प्रदेश में 4 लाख, तमिलनाडु में 7 लाख सूअर थे। संयुक्त राज्य में, सूअर उत्पादन एक बड़ा व्यवसाय है। 1972 में 54 अरब डालर मूल्य के 9 करोड़ 37 लाख सूअरों का उत्पादन हुआ था। यह विश्व के कुल उत्पादन का लगभग 20 प्रतिशत था। चीन का सूअर उत्पादन में महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत में प्रचलित विदेशी नस्लें

भारत में प्रायः देसी सूअरों में सुधार कुछ विदेशी नस्लों के सूअरों के इस्तेमाल से किया जाता है। न्यूनतम पूंजी लगाकर भी इस तरीके के बड़े उत्साहजनक परिणाम निकले हैं। नस्ल सुधारने के लिए आयात की जिन नस्लों का आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है वे हैं: बड़े आकार के सूअरों वाली सफेद यार्कशायर, मध्यम आकार के सूअरों वाली सफेद यार्कशायर और बर्कशायर नस्ल।

बड़े आकार के सफेद यार्कशायर सूअरों की नस्ल का मूल स्थान उत्तरी इंग्लैण्ड है। ये कनाडा, स्कॉटलैण्ड, आयलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में काफी संख्या में पाये जाते हैं। यह बहुत अधिक बच्चे पैदा करने वाली जाति है। सूअरी एक साथ काफी अधिक बच्चे देती है। भारत में तो यह नस्ल काफी लोकप्रिय है। देसी नस्ल को सुधारने और बढ़िया बनाने के लिए इनका इस्तेमाल किया जाता है। यद्यपि गांवों की सामान्य परिस्थितियों के स्थान पर खाने और देखभाल की नियन्त्रित अवस्थाओं में यह नस्ल अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है।

बड़ी सफेद यार्कशायर नस्ल के सूअर का रंग सफेद होता है। यह बहुत अधिक लम्बा, भारी और ठुके मांस वाला होता है। इसके कान पतले, लम्बे और कुछ आगे की ओर झुके होते हैं। कानों के किनारों पर बहुत महीन बाल होते हैं। गर्दन इसकी लम्बी और कन्धे तक भरी हुई होती है। छाती भारी और सफेद होती है। पीठ लम्बी, एकसम तथा काफी सफेद होती है। दोनों पार्श्व भारी, सीधे और सुगठित पसलियों वाले होते हैं। टांगें सीधी और सुगठित होती हैं। परिपक्व सूअर का वजन लगभग 300 से 400 किलोग्राम होता है। औसत सूअरी का वजन 220 से लेकर 320 किलोग्राम तक होता है।

मध्यम दर्जे की सफेद यार्कशायर नस्ल अंग्रेजी नस्ल है। ऐसा कहा जाता है कि बड़े आकार के सूअरों वाली सफेद यार्कशायर नस्ल को उसी से निकाली छोटे सूअरों वाली नस्ल से मिलाकर यह नस्ल तैयार की गई है। मध्यम सफेद यार्कशायर नस्ल के सूअर बड़ी जल्दी बड़े हो जाते हैं। बढ़िया किस्म के सूअर मांस के उत्पादक के रूप में यह नस्ल प्रसिद्ध है। इस नस्ल के सूअरों पर खर्च भी अपेक्षतया कम पड़ता है। इस नस्ल में अन्य नस्लों की तुलना में काफी अधिक खालें भी मिलती हैं। इस नस्ल के सूअर कठोर परिस्थितियों को सह लेते हैं और चरने मात्र से ही खूब फलते फूलते रहते हैं। अन्य विदेशी नस्लों के सूअरों की तुलना में इस नस्ल के सूअर भारतीय गांवों में पायी जाने वाली परिस्थितियों में अधिक उपयुक्त रहते हैं।

इस नस्ल के सूअरों का रंग सफेद होता है और गर्दन कन्धों तक भरी होती है। कन्धे चौड़े होते हैं। पीठ इनकी लम्बी और एकसम होती है। पीठ के उठाव चौड़े और भरे हुए होते हैं। ये पिछले घुटनों तक गहरे होते हैं। दोनों किनारे भारी, एकसम तथा सुगठित पसलियों वाले होते हैं। दोनों पार्श्व मोटे होते हैं। धड़ लम्बे, चौड़े होते हैं। इस नस्ल के सूअर जब पूरी तरह से विकसित हो जाते हैं, तब इनका वजन 250 से 350 किलोग्राम के बीच होता है। औसत सूअर का वजन 175 से 275 किलोग्राम होता है।

बर्कशायर सबसे पुरानी अंग्रेजी नस्ल है। यह नस्ल आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में बहुत

लोकप्रिय है। बाजार के लिए उपयुक्त मांस के उत्पादक के रूप में इस नस्ल को विशेष मूल्यवान माना जाता है। इस नस्ल के सूअरों के मांस में वसारहित मांस अपेक्षतया अधिक अनुपात में होता है। इसे बेकन तथा अनेक उत्पादनों के निर्माण के लिए अधिक उपयुक्त नहीं माना जाता। भारत में तो मुख्य रूप से दक्षिण में ही नस्ल सुधारने के लिए इस जाति के सूअरों का इस्तेमाल किया गया है।

बर्कशायर नस्ल के सुअर का रंग काला होता है। प्राय: पांव, सिर और दुम पर सफेद धब्बे होते हैं। इसका सिर छोटा होता है और चेहरा खोखला। इसकी तुण्ड (उभरी नाक) छोटी होती है। शरीर लम्बा, पसलियां सुगठित होती हैं। पूरी तरह से विकसित सूअर का वजन 275 से 375 किलोग्राम के बीच होता है। सूअरी का औसत वजन 200 से 300 किलोग्राम के बीच होता है।

ब्रिटिश मूल की अन्य प्रमुख नस्लें हैं: **टामवर्ग, एसेक्स, वेसेक्स, सैडल बैक। चैस्टर वाइट, ड्यूरोक** और **हैम्पशायर** नस्लें अमेरिका में लोकप्रिय हैं।

प्रजनक सूअरों का चयन और प्रबन्ध

प्रजनक सूअर रेवड़ का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य होता है। इसलिए इसका चुनाव बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए। अच्छे सूअर की बनावट मर्दाना होनी चाहिए। यह प्रजनीय नस्ल के सूअरों के अनुरूप होना चाहिए। इसका शरीर काफी लम्बा होना चाहिए। कन्धे अधिक भारी नहीं होने चाहिएं। सूअर में कोई शारीरिक विकृति नहीं होनी चाहिए। दोनों अण्डकोषों में स्पृश्य अण्डग्रन्थियां होनी चाहिएं।

ऐसे कम उम्र के सूअरों को, जिन्हें नस्ल बढ़ाने के लिए नहीं चुना जाता, दूध छुड़वाने से पहले 3 से लेकर 5 सप्ताह तक की उम्र के भीतर बधिया करवा देना चाहिए। बधिया किये गये सूअर के बच्चे का विकास अधिक अच्छा होता है। बिना बधिया किये सूअरों के मांस में से जो तेज गन्ध आती है, बधिया करवा दिये गये सूअर के मांस में वह गन्ध भी अधिक नहीं रहती। सूअर को बधिया जल्दी और स्वास्थ्यकर तरीके से किया जाना चाहिए। गरम मौसम में सूअर को बधिया नहीं किया जाना चाहिए विशेषकर उस समय जबकि आसपास मक्खियां हों। बधिया करने से 12 घण्टे पहले सूअर के बच्चों को हल्के खाने पर रखा जाना चाहिए। ऑपरेशन के बाद दिनभर उन्हें परेशान नहीं किया जाना चाहिए।

यदि कम उम्र के सूअरों को अच्छी तरह से रखा जाये और ठीक खाना खिलाया जाये तो ये लगभग 8 मास की उम्र में मेल करने लायक हो जाते हैं। परन्तु जब तक ये एक वर्ष की आयु के नहीं हो जाते, इनका इस्तेमाल कम ही करना चाहिए। लगभग 6 वर्ष की उम्र तक सूअर का मेल बड़े सन्तोषजनक ढंग से करवाया जा सकता है। प्रजनक सूअर का प्रतिवर्ष 50 सूअरियों से ही मेल करवाया जाना चाहिए। प्राय: दिन में एक से अधिक बार और महीने में 20 से अधिक बार मेल न करवाना ही अच्छा रहता है। यदि सूअर पर ज्यादा भार लम्बी अवधि तक डाला जाता है तो आशंका रहती है कि इसका स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा और यह कमजोर और छोटे बच्चे पैदा करेगा।

सूअर को सूअरियों के साथ भागने दौड़ने नहीं दिया जाना चाहिए। इस तरह सूअर सूअरी से आवश्यकता से अधिक बार मेल कर अपने को अधिक थका लेता है। जिस समय मादा सूअर गर्भधारण ऋतु में होती है, उस समय सूअर को एक बार ही मेल करने देना चाहिए। सूअर प्रायः बहुत जल्दी भड़क उठने वाले होते हैं। यह आशंका रहती है कि अपरिचित परिस्थितियों में मेल ही न करें। बार बार असफल रहने पर तो यह भी हो सकता है कि सूअर उस समय भी मेल करने से इन्कार कर दे जबकि सूअरी पूरी तरह से गर्म हो।

सूअर को स्वस्थ और शक्तिशाली बनाये रखने के लिए यह सावधानी बरतनी चाहिए कि उसे खाना अधिक न खिला दिया जाये। सूअर को नियमित रूप से हरा चारा मिलते रहना चाहिए। उचित मात्रा में मेहनत भी इससे करवायी जाती रहनी चाहिए। कभी कभी ठीक खाने की व्यवस्था न होने से और प्रबन्ध में खराबी के कारण सूअरों में प्रजनन शक्ति नष्ट हो जाती है।

प्रजनक सूअरी का चुनाव और प्रबन्ध

प्रजनक सूअरी का चुनाव तभी कर लेना चाहिए जबकि इसकी उम्र कम हो। इसकी मां ऐसी होनी चाहिए जिसके बारे में यह पता हो कि यह काफी संख्या में एकसम बच्चे देती है और दूध छुड़वाने के समय इन बच्चों का वजन काफी होता है। ऐसी सूअरी एक बार में काफी संख्या में स्वस्थ तथा अच्छी तरह बढ़ने वाले बच्चे देगी। व्यापारिक दृष्टि से भिन्न भिन्न आकार की अपेक्षा समान आकार का शावक समूह अच्छा माना जाता है।

प्रजनक सूअरी लम्बी होनी चाहिए। इसका शरीर भारी होना चाहिए। पिछले घुटने तक काफी मांस चढ़ा हुआ होना चाहिए। इसे किसी प्रकार से असामान्य नहीं होना चाहिए। इसके स्तनों का विकास ठीक होना चाहिए और 12 से 14 तक की संख्या में थन पेट के दोनों ओर बराबर बराबर बंटे होने चाहिएं। दोषयुक्त थनों वाली और कम दूध देने वाली सूअरियों को नस्ल सुधारने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए। नस्ल सुधारने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली सूअरी का स्वभाव शान्त होना चाहिए। अधीर और जल्दी से क्रुद्ध हो जानेवाली सूअरियां प्रायः कम ही अच्छी माताएं सिद्ध होती हैं। सूअरी की बनावट जनाना होनी चाहिए। सिर और कान मोटे व खुरदरे नहीं होने चाहिएं। सूअरी न बहुत मोटी होनी चाहिए और न ही बहुत दुबली पतली। बहुत अधिक मोटी हो जानेवाली सूअरी प्रायः गर्भधारण नहीं कर पाती। मोटी सूअरी को खाना कम दिया जाना चाहिए। इसे घास पर रखना सम्भव हो तो अच्छा रहता है। सूअर के बच्चों को प्रायः 8 अथवा 9 महीने की उम्र से वसा खिलानी शुरू कर दी जाती है। इस अवधि में सान्द्रित खाना कम कर दिया जाना चाहिए। कमजोर स्वास्थ्य वाली सूअरी प्रायः बच्चे अनियमित रूप से देती है। यह बच्चे कम देती है और बच्चे स्वस्थ भी नहीं होते।

सूअरी लगभग दो वर्ष की उम्र में पूरी तरह परिपक्व हो जाती है। यदि इसकी देखभाल अच्छी तरह की गयी हो तो इसे पहली बार केवल 9 मास की उम्र में ही गर्भधारण करवाया जा सकता है। सूअरियों को कम आयु में गर्भधारण करवाना टाला ही जाना चाहिए ताकि ये पूरी तरह विकसित हो जायें और स्वस्थ बच्चे पैदा कर सकें। सूअरियों का मेल करवाने

में बहुत अधिक देरी भी नहीं की जानी चाहिए क्योंकि उस दशा में इनके अधिक मोटे बच्चे पैदा करने की आशंका रहती है।

सूअरों का मेल करवाने के प्राय: दो मौसम हैं: अगस्त-सितम्बर और फरवरी-मार्च। इस अवधि में उदारतापूर्वक खिलाने से सूअरियों को जल्दी गर्मी पर लाने में सहायता मिलती है।

युवा सूअरी में 4 से 6 महीने की आयु में पहली बार गर्मी के लक्षण दिखायी देते हैं। यह गर्मी 21-21 दिन के अन्तराल से प्रकट होती है। यह क्रम तब तक चलता है जब कि यह गर्भधारण नहीं कर लेती। बच्चे पैदा करने के बाद बच्चों का दूध छुड़वाने के 5 से 7 दिन बाद सूअरी फिर गर्मी में आती है। सूअरी का उस समय मेल करवा दिया जाना चाहिए। गर्मी की यह अवधि 40 से 65 घण्टे तक बनी रहती है। पूर्ण विकसित सूअरी में कम उम्र की सूअरी की तुलना में गर्मी अधिक देर तक रहती है। मेल करवाने का सबसे अच्छा समय गर्मी की अवधि के अन्तिम भाग में है, शुरू में नहीं।

सूअरी के गर्मी में आने के सामान्य लक्षण हैं: भूख का कम होना, बेचैनी, भारी अथवा फैली भग, हल्का श्लेष्मक स्त्राव। गर्मी में आयी सूअरी प्राय: अन्य सूअरियों पर चढ़ जाती है और बीच बीच में विशेष प्रकार की ऊंची आवाज निकालती है।

सूअरी के गर्भधारण का समय 112 से 116 दिन तक रहता है। औसत 113 दिन का है। यदि खुराक और आवास की व्यवस्था ठीक हो तो प्रतिवर्ष दो बार बच्चे पैदा करवाए जा सकते हैं।

सूअरी जब गर्भवती हो तो यह जरूरी है कि इससे नियमित रूप से श्रम करवाया जाये। यह अधिक अच्छा रहता है कि इसे चरने के स्थान उपलब्ध हों। इससे इसका स्वास्थ्य ठीक बना रहता है।

ब्याने के समय सूअरी की देखभाल

सूअरी के ब्याने के दिन से 10 से 15 दिन पहले इसको अलग बाड़े में ले जाना चाहिए। ब्याने के लिए बनाया गया बाड़ा सुविधाजनक होना चाहिए और खुले अहाते से जुड़ा होना चाहिए जहां सूअरी और इसके बच्चे बिना किसी रुकावट के हिल जुल और चल फिर सकें। इसके लेटने के लिए काफी मात्रा में सूखे तिनके व घास वहां पर डाल दी जानी चाहिए। अधिकतर सूअरियां स्तनों में दूध आने के 24 घण्टे के भीतर ही ब्यायी जाती हैं। ब्याने में प्राय: दो से पांच घण्टे का समय लगता है, परन्तु कभी कभी इसमें अधिक समय भी लग जाता है। ब्याने के समय कम से कम बाधा डालनी चाहिए। यदि किसी प्रकार की कठिनाई हो तो पशु चिकित्सक की सहायता ली जा सकती है। ब्याने के समय सूअरी लेटी रहती है। प्रसव के समय जो गन्द निकलता है, वह तुरन्त ही हटा दिया जाना चाहिए ताकि सूअरी उसे खाने न लगे। बच्चों की नाभि रज्जू शरीर से दो सेण्टीमीटर की दूरी पर काट दी जानी चाहिए। उसे रुधिरवाहिका से एक सेण्टीमीटर नीचे काटकर टिंचर आयोडीन लगा दिया जाना चाहिए। बच्चे पैदा करने के बाद सूअरी को परेशान नहीं किया जाना चाहिए।
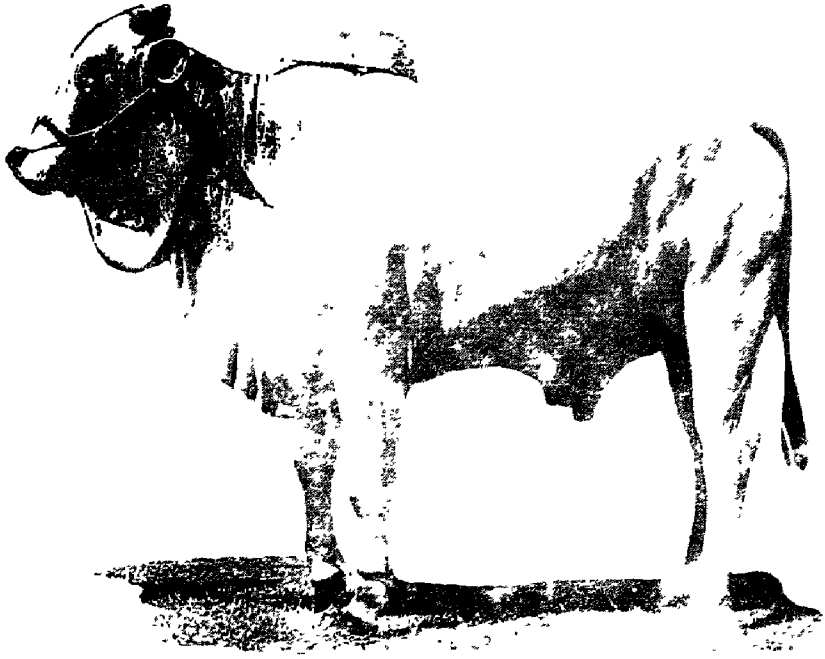
ओंगोल पशु भारी और शक्तिशाली होते हैं

सिन्धी नस्ल के जानवरों का आकार बड़ा, रंग लाल और माथा चौड़ा होता है

थरपारकर मध्यम आकार की नस्ल है

मुर्रा भैंस प्रतिदिन 25 से 30 लिटर तक दूध देती है

भारतीय कृषि में बैलों की अहम् भूमिका है

घोड़ा शीघ्र प्रशिक्षित किया जा सकने वाला उपयोगी जानवर है

जमनापरी बकरिया काफी हृष्ट-पुष्ट और फुर्तीली होती हैं

पालतू पशुओं में भेड़ें सबसे अधिक विनम्र होती हैं

अत्यंत विशाल शरीर के बावजूद हाथी आश्चर्यजनक रूप से चुस्त और आज्ञापालक है
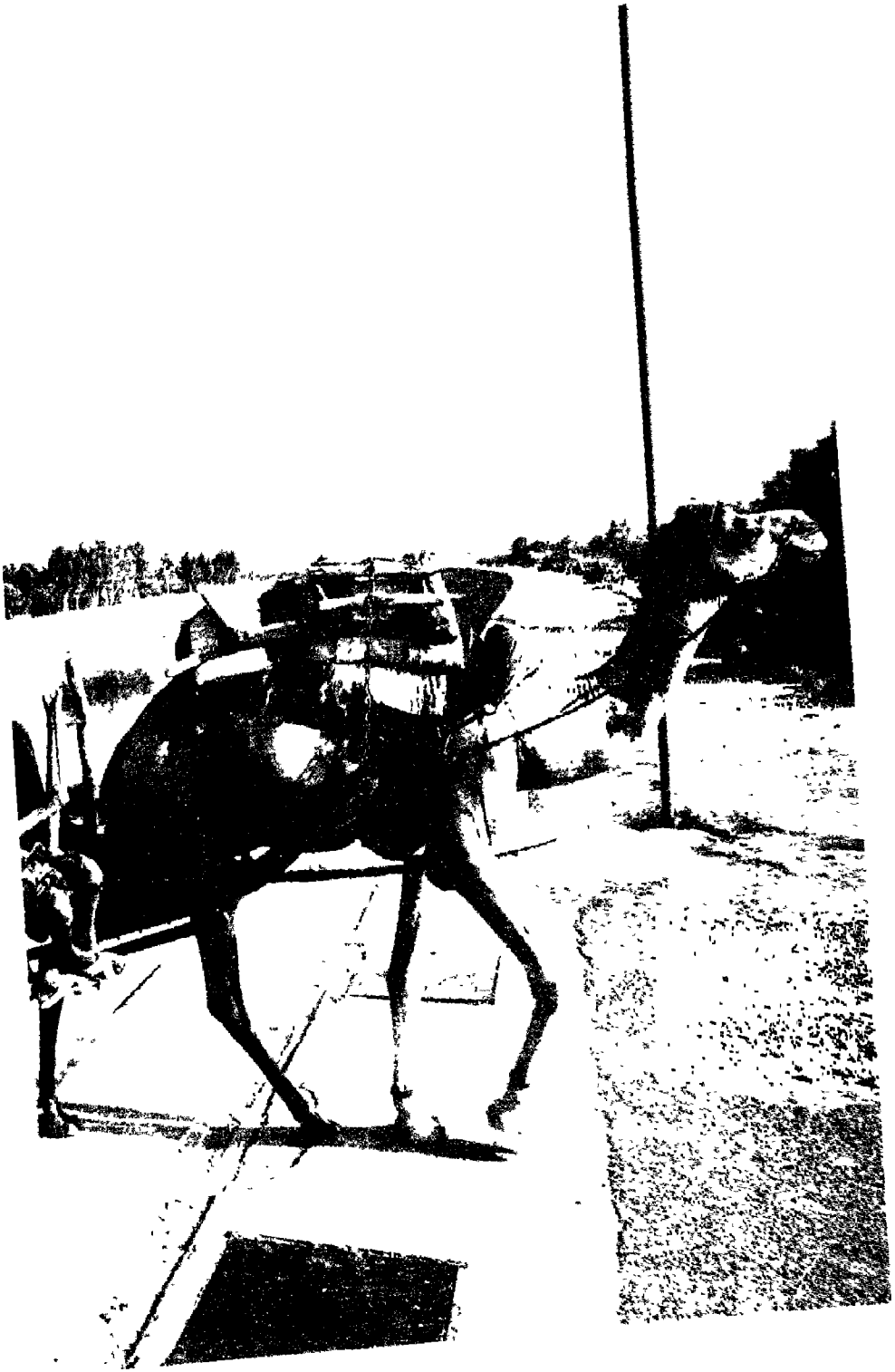
रेगिस्तान का जहाज
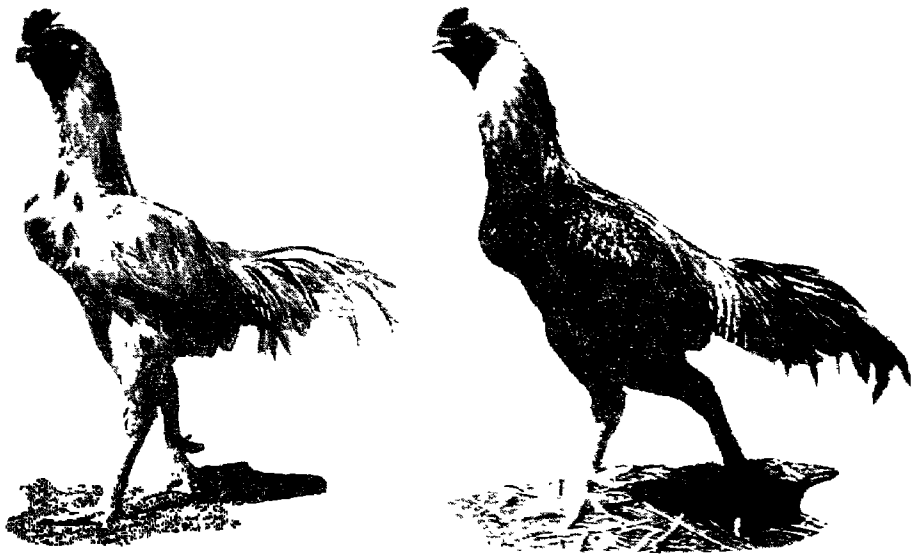
असील मुर्गियां अपने लड़ाकू गुणों के कारण विख्यात हैं
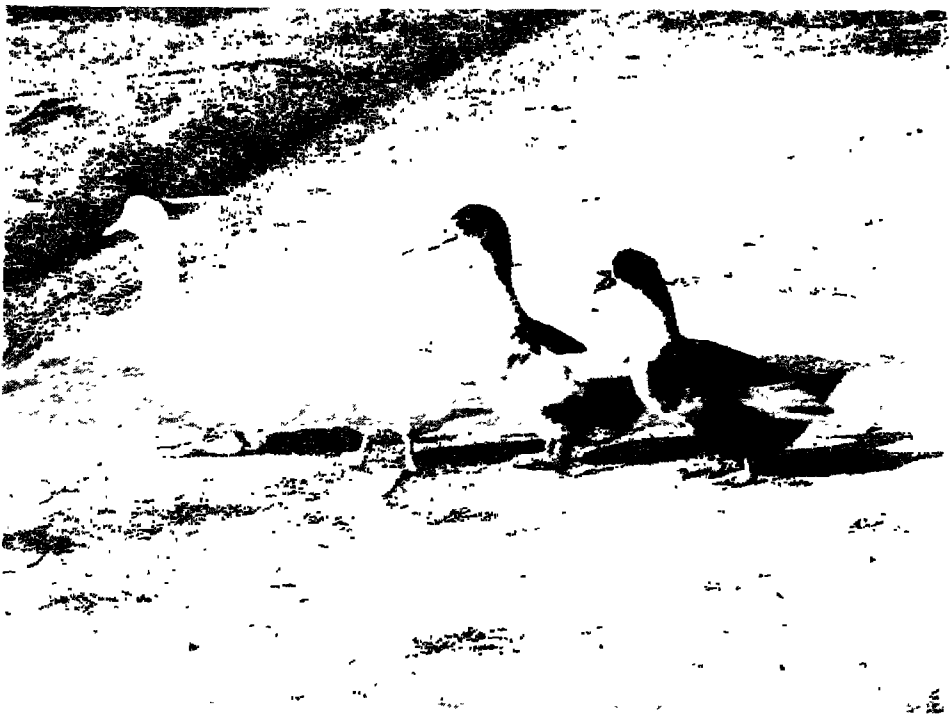
मुर्गीपालन में चूजों के बाद बत्तखों का ही प्रमुख स्थान है

सूअरी और उसके बच्चों को ठण्ड से बचाने के लिए आवश्यक सावधानियां बरतनी चाहिएं। सर्दियों के मौसम में सूखे तिनकों का बिस्तर बिछाया जाना चाहिए।

ब्याने के बाद तीन दिन तक सूअरी को हल्के खाने पर रखा जाना चाहिए। उसके बाद ज्यों ज्यों इसे अच्छी भूख लगने लगे, इसे सामान्य खाना देना शुरू करना चाहिए। खाना कुछ गीला करके अथवा मोटी लोई के रूप में दिया जा सकता है। इसे पीने के लिए साफ पानी सदैव पर्याप्त मात्रा में दिया जाना चाहिए।

सूअर के बच्चों की देखभाल

सूअर के जीवन में सबसे अधिक नाजुक अवधि उसके जीवन के पहले तीन दिन होते हैं। मरने वाले सूअरों के बच्चों में से आधे तो लगभग इसी अवधि में मरते हैं। पैदा होनेवाले बच्चों में से एक-तिहाई के लगभग आठ सप्ताह, दूध छुड़वा देनेवाली आयु, तक पहुंच नहीं पाते। सूअर के बच्चों के अधिक संख्या में मरने का मुख्य कारण तो सूअरी का अधिक बच्चे देना ही है तथापि इनमें से काफी मौतें इस कारण भी हो सकती हैं कि इन्हें पर्याप्त दूध और अन्य खाद्य नहीं मिलता।

ब्याने से पहले और बाद में सूअरी को उचित प्रकार से खिलाना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि सूअर के बच्चे जन्म के समय आ पड़ने वाली कठिनाइयों का सामना करने के लिए पूरी तरह से समर्थ हो सकें। यदि सूअरी को अच्छे भोजन पर रखा जाये तो यह प्रतिदिन 3 से 4 किलोग्राम दूध दे सकती है। इस दूध की संरचना ऐसी होती है कि बढ़ते हुए बच्चों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए वह बहुत अधिक उपयुक्त होता है। सूअरी का दूध प्रोटीनों और खनिजों की दृष्टि से गाय के दूध की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। गाय के दूध की तुलना में सूअरी के दूध में प्रोटीन और खनिज अधिक मात्रा में होते हैं। सूअरी के दूध में 7.23 प्रतिशत प्रोटीन, 4.55 प्रतिशत वसा, 3.23 प्रतिशत शर्करा, 1.05 प्रतिशत खनिज और 83.94 प्रतिशत जल होता है। अपने बच्चों के लिए आवश्यक दूध पैदा करने के लिए सूअरी को पर्याप्त मात्रा में ऐसा खाना मिलना चाहिए जिसमें ये पौष्टिक तत्व हों।

सूअर के नवजात बच्चे प्राय: जन्म के कुछ मिनट बाद ही लड़खड़ाते हुए अपने पांवों पर खड़े हो जाते हैं और अयन तक पहुंच जाते हैं। ज्यों ज्यों छोटे छोटे बच्चे पैदा होते जाते हैं, उनमें थनों के लिए प्रतियोगिता होने लगती है। परन्तु अन्त में प्रत्येक बच्चा एक थन पकड़ लेता है और सारा समय उसी को चूसता है। अगली टांगों के निकट के थनों में पिछले भाग के पासवाले थनों की तुलना में अधिक दूध होता है। सूअर के बच्चे अगले थन पाने के लिए कभी कभी आपस में लड़ते भी हैं। यदि बच्चे एक साथ अच्छे थनों की संख्या से अधिक संख्या में पैदा हो जायें तो उनमें से अधिक ताकतवर बच्चों को अन्य किसी ऐसी सूअरी से लगा देना चाहिए जो लगभग उसी समय ब्यायी हो और जिसके कम बच्चे पैदा हुए हों। बच्चों को पहला खाना खीस का ही मिलना चाहिए। ब्याने के तीन या चार दिन बाद तक सूअरी से खीस मिलती रहती है।

जन्म के पहले 8 सप्ताह में सूअर के बच्चे बड़ी तेजी से बढ़ते हैं। इसलिए उनके सामने

पर्याप्त मात्रा में खाना हमेशा रहना चाहिए। सूअर के बच्चों से प्राय: 8 सप्ताह की उम्र में दूध छुड़वा दिया जाता है, परन्तु पर्याप्त खाना देकर उनसे दूध इससे भी पहले छुड़वाना सम्भव है।

कसरत

सूअरों को स्वस्थ रखने और इनके ठीक विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में कसरत भी आवश्यक है। मोटे किये जा रहे सूअरों को कसरत इतनी ही करवायी जानी चाहिए जिससे कि ये स्वस्थ रह सकें। सबसे अच्छा तो यह रहता है कि बांधने के स्थान के पास के किसी छोटे से अहाते में इन्हें इधर उधर भागने दिया जाये। कुछ घण्टों के लिए प्रतिदिन इन्हें किसी चरागाह में ले जाना भी अच्छा रहता है।

सूअरों की खुराक

भारत में प्राय: सूअरों के भोजन पर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। इन्हें खुला छोड़ दिया जाता है और गन्दगी के ढेरों में अथवा कटे खेतों में जो कुछ ये पा सकते हैं, उसे ही खा लेते हैं। इससे इन्हें कोई पौष्टिक पदार्थ नहीं मिलता। इनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। इनसे आमदनी भी कम होती है।

मवेशियों अथवा भेड़ों के विपरीत सूअरों का पाचन तन्त्र हल्का होता है। इसलिए मोटे रेशेदार चारे को ये अच्छी तरह से पचा नहीं पाते। इन्हें खाने के लिए ऐसे पदार्थ दिये जाने चाहिएं जिनमें रेशे अपेक्षतया कम हों—मोटा अनाज और उसके गौण उत्पादन। यह अवश्य है कि यद्यपि इन अनाजों में प्रोटीन और खनिजों की कमी होती है तथा बढ़ते हुए सूअरों तथा गर्भिणी अथवा स्वास्थ्य लाभ करती सूअरियों के लिए इनमें पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक तत्त्व भी नहीं होते। इसलिए इनके भोजन में अन्य ऐसे पदार्थों की व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे ये कमियां दूर हों।

अन्य पालतू पशुओं की तरह सूअरों को भी अधिक भोजन से बचाना चाहिए। अधिक खिलाने से न केवल भोजन की ही हानि होती है वरन् यह भी आशंका रहती है कि सूअर के पाचन तन्त्र में खराबी न आ जाये। ऐसा होने पर सूअर पर रोग संक्रमण अपेक्षतया जल्दी हो जाता है। इससे बचाव का व्यावहारिक तरीका तो यही है कि प्रत्येक खुराक के बाद खिलाने के बर्तन अच्छी तरह साफ कर लिये जायें।

सूअरों को किन पौष्टिक पदार्थों की आवश्यकता है, यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि ये किस उद्देश्य के लिए पाले जा रहे हैं। बढ़ रहे सूअर को तो अपने ऊतकों के लिए अधिक प्रोटीनों की, हड्डियां बनाने के लिए खनिजों की और स्वस्थ विकास के लिए विटामिनों की आवश्यकता होती है। बड़े हो चुके सूअरों को ऊर्जा के लिए और चर्बी बढ़ाने के लिए स्टार्च वाले भोजन की अधिक जरूरत होती है।

सूअरों को पर्याप्त मात्रा में स्वच्छ और ताजे जल की आवश्यकता होती है। चारे की

किस्म और मौसम के अनुसार इनके लिए पर्याप्त मात्रा में जल की व्यवस्था की जानी चाहिए। सामान्यत: सूअरों को प्रति किलोग्राम चारे के लिए दो से लेकर तीन लिटर तक पानी की आवश्यकता होती है। यदि गूदेदार खाना सूअर को दिया जा रहा हो तो इस बात की सावधानी रखना आवश्यक है कि भूख मिटाने के लिए यह अधिक मात्रा में जल न पी ले। जिन सूअरों को अच्छी तरह से रखा नहीं जाता, उनका पेट सूज जाता है। इसका कारण यह होता है कि इनके भोजन में वनस्पतियों का जो अंश होता है, उसमें बहुत अधिक मात्रा में जल होता है। सूअरों को मोटी लेई के रूप में खाना दिया जाना अधिक अच्छा रहता है। स्वास्थ्य लाभ करती सूअरियों को तो पर्याप्त मात्रा में पेय जल देना विशेष रूप से आवश्यक है।

खनिजों की कमी

बढ़ रहे सूअरों का विकास प्राय: रुक जाता है अथवा धीमी गति से होने लग जाता है। इसका कारण यह होता है कि उनके खाने में खनिज पदार्थों की मात्रा कम रहती है। सूअरियां अपने बच्चों को दूध पिलाते समय प्राय: दम तोड़ देती हैं। इसलिए सूअरों को सदा ही और विशेष रूप से विकास और गर्भ की अवधि में पर्याप्त मात्रा में खनिज दिये जाने चाहिएं ताकि इनके शरीर की आवश्यकताएं पूरी हो जायें।

सूअरों को खिलाये जानेवाले सबसे अधिक महत्वपूर्ण खनिज हैं: कैल्शियम, फॉस्फोरस और नमक। पिसा हुआ चूने का पत्थर कैल्शियम का उत्तम स्त्रोत है। वाष्पित अस्थिचूर्ण (बोनमील) से कैल्शियम और फॉस्फोरस दोनों ही उपलब्ध होते हैं। 5 भाग वाष्पित अस्थि चूर्ण, 2.5 भाग पिसे चूने का पत्थर, 1 भाग चारकोल और 1 भाग कठोर लकड़ी की राख और आधा भाग नमक को मिलाकर तैयार किया खनिज मिश्रण सूअरों के लिए काफी अच्छा रहता है। गण्ड-क्षेत्रों में आयोडीन की कमी को पूरा करने के लिए प्रत्येक 100 किलोग्राम खनिज मिश्रण में 20 ग्राम आयोडीन भी मिला देनी चाहिए।

खनिज मिश्रण देने का सबसे बढ़िया तरीका है कि उसे लकड़ी के डिब्बों में डालकर एक ऐसे सूखे स्थान पर रख दिया जाये जहां से सूअर किसी भी समय उसे ले सकें। खनिज मिश्रण की आवश्यक मात्रा हरे चारे में भी मिलायी जा सकती है। पहली विधि में शुरू शुरू में तो लकड़ी के डिब्बों में खनिज मिश्रण सीमित मात्रा में ही रखना चाहिए ताकि सूअर आवश्यकता से अधिक न खा सकें। बाद में जब इन्हें उन डिब्बों से खाने का अभ्यास हो जाये तो इसे इतनी मात्रा में ही खाएंगे जितनी कि इन्हें आवश्यकता होगी।

कम उम्र के सूअरों की खुराक

सूअरों को लगभग तीन सप्ताह की उम्र से ही, जबकि वे अभी तक अपनी माता के स्तनों से दूध पी रहे हों, खिलाना शुरू कर देना चाहिए। उनके इस भोजन में पिसी जई की तरह सूखे अनाज की मात्रा कुछ मुट्ठीभर होनी चाहिए। लगभग एक मास की उम्र में सूअर के

बच्चों को पिसे गेहूं की चोकर, जौ अथवा मक्का को मलाई उतारे दूध में मिलाकर दिया जाना चाहिए। दूध छुड़वाने के कुछ दिन पहले से सूअर के बच्चों के भोजन की मात्रा धीरे धीरे बढ़ायी जानी चाहिए। उनके भोजन की मात्रा अथवा किस्म में एकाएक कोई परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए।

सूअरों को प्रतिदिन 4 या 5 बार खाना दिया जाना चाहिए। सूअर के बढ़ने के साथ साथ उसके खाने में तरल पदार्थों की मात्रा कम करते जाना चाहिए।

प्रजनक सूअरों की खुराक

प्रजनक सूअरों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ऐसे सूअरों को, जिनका स्वास्थ्य ठीक न हो, प्रजनन ऋतु के एक सप्ताह पहले से ही अतिरिक्त खाना दिया जाना चाहिए। 6 भाग मक्का, 3 भाग पिसा जौ अथवा गेहूं, 1 भाग मछली अथवा मांस का मिश्रित भोजन नस्ल सुधारने वाले सूअरों के लिए उपयुक्त पाया गया है। 5 भाग मक्का, 2.5 भाग पिसा जौ, 1.5 भाग गेहूं का चोकर और एक भाग मछली अथवा मांस के मिश्रण से तैयार किया गया भोजन देने से भी अच्छे परिणाम निकले हैं।

मखनिया दूध अथवा छाछ जब कभी सस्ती दर पर उपलब्ध हो तो उसे मछली अथवा मांस के स्थान पर इस्तेमाल किया जा सकता है। रसोईघर का बचा खुचा खाना भी सूअर के भोजन का महत्वपूर्ण अंग बन सकता है। उसे मोटे अनाज के गौण उत्पादनों के साथ अथवा अकेले ही अनुपूरक भोजन के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। जब भी सम्भव हो, शलगम, गाजर, फलियां और आलू इत्यादि कई सब्जियां सूअरों को खिलायी जानी चाहिएं। बूचड़खानों का बचा खुचा बेकार मांस सूअर को देने से पहले अच्छी तरह से पका लेना चाहिए। जड़ों को बिना पकाये देना ही अच्छा रहता है परन्तु आलू कच्चे कभी नहीं दिये जाने चाहिएं।

गर्भावस्था के प्रारम्भिक चरणों में तो सूअरी को यदि पर्याप्त हरा चारा मिलता रहे तो प्रतिदिन 1.5 किलोग्राम सान्द्रित मिश्रण की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु गर्भावस्था के बाद के चरणों में सूअरी को प्रतिदिन 2.5 किलोग्राम सान्द्रित राशन दिया जाना चाहिए। ब्याने से 3 या 4 दिन पहले भोजन की मात्रा कम कर दी जानी चाहिए। अनाज के स्थान पर चोकर दिया जाना चाहिए। इससे सूअरी का पेट साफ रहता है। यदि सूअरी को जरा भी कब्ज मालूम पड़े तो भोजन में अलसी का चूरा मिला दिया जाना चाहिए।

प्रजनक सूअरों की खुराक पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इनका अधिकतम उपयोग तभी किया जा सकता है। सूअर को सदा ऐसी हालत में रखना चाहिए कि न तो यह बहुत अधिक मोटा लगे और न ही इसका मांस बहुत कम दिखे। इन दोनों अवस्थाओं में इसकी प्रजनक शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। प्रजनन ऋतु में जिन वस्तुओं में प्रोटीन अधिक पाया जाता है, उनकी मात्रा खुराक में बढ़ा दी जानी चाहिए। सोयाबीन, मछली, मांस और डेरी के गौण उत्पादन, मखनिया दूध और छाछ।

सूअरों के लिए चरागाह की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि कोई उपयुक्त चरागाह उपलब्ध

न हो तो अहातों में ही रसदार पत्तोंवाला चारा इनके लिए रख दिया जाना चाहिए। सामान्य राशन के अतिरिक्त प्रजनक सूअर को पूरक भोजन के रूप में खनिज मिश्रण पर्याप्त मात्रा में दिया जाना चाहिए। सूअर को खाना पूरी तरह से पच सके, इसके लिए खाना देने से कुछ घण्टे पहले अनाज को पीसकर गीला कर लिया जाना चाहिए। सारे वर्ष इसे हरा चारा देते रहना बहुत अच्छा रहता है। किसी उपयुक्त फली का भूसा भी देते रहना चाहिए।

मुटाते सूअरों की खुराक

मुटाते सूअरों को खाने में स्टार्च अधिक और अधिक प्रोटीन वाली वस्तुएं कम मात्रा में दी जानी चाहिएं। 20 भाग मक्का, 1 भाग बूचड़खाने के अवशिष्ट द्रव्य और 1 भाग सोयाबीन को मिलाकर देना अच्छा रहता है। सोयाबीन का प्रयोग सीमित मात्रा में ही करना चाहिए क्योंकि इससे सूअर में नरम मांस पैदा होता है। बेकन कारखानों से प्राप्त हड्डियों से तैयार किया गया सूप अनाज मिश्रण में मिलाकर मोटे होते सूअरों को खिलाना उपयुक्त रहता है।

यदि बाजार में अधिक वसावाले मांस की जरूरत हो तो सूअरों को मक्का खिलाया जाना चाहिए। यह अपेक्षतया सस्ता होता है। इसमें कार्बोहाइड्रेट अधिक प्रतिशत मात्रा में होते हैं। ये शरीर में आसानी से वसा में बदल जाते हैं। बाजार में मांग अगर कम वसा वाले बेकन और हैम की हो तो मक्का अथवा उतनी मात्रा में चने के साथ मखनिया दूध और छाछ को मिलाकर सूअर को खिलाया जाना चाहिए।

जिन सूअरों को मांस के लिए काटा जाता है, उन्हें बडी सावधानी से मछली खिलायी जानी चाहिए ताकि मछली की गन्ध उनके मांस में न आ जाये। जिस समय वह दूध पीने की उम्र के हों, उनके राशन में 15 प्रतिशत से अधिक मछली नहीं होनी चाहिए। दूध छुड़वाने के बाद इसकी मात्रा 10 प्रतिशत हो जानी चाहिए। बाद में जब उन्हें मोटा किया जा रहा हो तो यह मात्रा 5 प्रतिशत होनी चाहिए। काटे जाने से लगभग दो सप्ताह पहले मछली देना बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाना चाहिए।

हरे चारे के अतिरिक्त मोटे किये जा रहे सूअरों को 23 किलोग्राम वजन तक 1 किलोग्राम सान्द्रित मिश्रण दिया जाना चाहिए। इसके बाद शरीर के वजन में हर 23 किलोग्राम की वृद्धि पर लगभग आधा किलोग्राम अतिरिक्त सान्द्रित मिश्रण दिया जाना चाहिए। बड़े सूअर के लिए पूरा राशन 3 किलोग्राम होगा।

सूअरों की आवास व्यवस्था

अधिकतम लाभ के लिए सूअरों को रखने की ठीक व्यवस्था होनी चाहिए। उन्हें अत्यधिक गर्मी, वर्षा और ठण्ड से बचाया जाना चाहिए। सूअरों को स्वच्छ रखने और सर्वोत्तम विकास के लिए उन्हें सुविधाजनक, हवादार और स्वास्थ्यप्रद बाड़ों में रखना आवश्यक है। भारतीय जलवायु में सूअरों को रखने के लिए महंगे और यत्नपूर्वक बनाये गये स्थानों की जरूरत नहीं।

सूअरों को अधिक भीड़ वाली और नम जगहों पर नहीं रखा जाना चाहिए। सूअरों को जिस स्थान पर रखा जाये, वह स्थान आसपास के और स्थानों से ऊंचा होना चाहिए ताकि वहां की नाली व्यवस्था ठीक रह सके। फर्श और खुराक खिलाने में इस्तेमाल की जाने वाली सदियां इस प्रकार की होनी चाहिएं कि आसानी से साफ की जा सकें।

प्रत्येक बाड़े के साथ ऐसा खुला अहाता रखना भी अच्छा होता है जहां प्राकृतिक छाया उपलब्ध हो और जानवर जहां बेरोकटोक घूम सकें। सर्दियों में बाड़ों को गर्म रखने के लिए वहां पुआल डाली जानी चाहिए। गर्मियों में सूअरों को ठण्डा रखने के लिए बाड़ों से जुड़े छोटे अहातों में पानी से भरे 20 से 25 सेण्टीमीटर गहरे छिद्र भी बना दिये जाने चाहिएं।

बाड़े कितनी संख्या में बनायें जायें और उनका आकार कितना हो, निस्सन्देह, यह तो इस बात पर निर्भर करेगा कि कितने सूअरों को रखा जाना है। सूअरों का बाड़े में प्राय: एक केन्द्रीय कक्ष होता है जिसमें बीच में लम्बाई के साथ साथ 15 सेण्टीमीटर चौड़ा रास्ता बना हुआ होता है। उसके दोनों तरफ बाड़े बने होते हैं। प्रत्येक बाड़ा 3.5 मीटर लम्बा और 2.5 मीटर चौड़ा होता है। वह इतने ही आकार के एक खुले अहाते से जुड़ा होता है। इस अहाते का फर्श पक्का होता है। इन खुले अहातों से लगा खूब खुला एक एक मैदान भी दोनों तरफ होना चाहिए। उसमें कुछ छायादार वृक्ष भी होने चाहिएं।

बीमारियों की रोकथाम

सफल सूअरपालन के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि विकास के हर चरण में उनका स्वास्थ्य ठीक रखा जाये। सूअरों को होनेवाली अधिकांश बीमारियों की रोकथाम की जा सकती है। सूअरों की बीमारियों की रोकथाम के लिए जो कदम उठाये जाते हैं, वे उनकी बीमारियों के इलाज की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली और कम खर्चीले होते हैं। बीमारियों की रोकथाम के लिए महत्वपूर्ण बातें हैं: रहने के लिए अच्छा स्थान, ताजी हवा और पर्याप्त धूप, ताजा और साफ जल, पर्याप्त भोजन, दैनिक कसरत और उपयुक्त सफाई।

सूअर जब ज्यादा लेटने लगे और छेड़खानी किये जाने पर हिलने जुलने से कतराये तो यह पता लगाना चाहिए कि कहीं वह बीमार तो नहीं। भूख का कम होना, श्वास का तेजी से चलना, कब्ज अथवा पेचिश, कानों का रंग उड़ना, सुस्ती, नाड़ी का तेज चलना तथा तापमान का बढ़ना सूअरों की बीमारी के अन्य लक्षण हैं।

सूअरों का सामान्य तापमान 38.3 से 40 दर्जे सेल्सियस (101 से 104 दर्जे फॉरनहीट) और औसत तापमान 38.9 डिग्री सेल्सियस (102 डिग्री फॉरनहीट) होता है। नाड़ी की सामान्य गति 55 से 75 प्रति मिनट होती है और श्वसन गति 20 से 30 प्रति मिनट।

यदि किसी जानवर के छूत के रोग से पीड़ित होने का सन्देह हो तो उसे एकदम औरों से पृथक् कर देना चाहिए ताकि वह इस रोग को औरों में न फैला सके। सम्भव हो तो बीमार जानवरों की देख भाल पृथक् सेवकों से करवायी जानी चाहिए। रोगपीड़ित सूअरों के मल और उनके लेटने के लिए इस्तेमाल किये जानेवाले घास फूस को बड़ी सावधानी के साथ फेंकना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन किया जाना चाहिए। दीवारों

पर सफेदी कर दी जानी चाहिए। डी० डी० टी० युक्त चूने से सफेदी की जानी चाहिए। सफेदी के समय, विशेष करके कच्चे आवासों में सभी गड्ढों को अच्छी तरह से भर दिया जाना चाहिए। छूत के रोग से मरे सूअर पर चूने की एक परत चढ़ा उसे गहरे गड्ढे में दफनाया जाना अथवा उसे जला दिया जाना चाहिए। जानवरों के डाक्टर की सहायता तुरन्त ही ली जानी चाहिए। यदि शुरू में ही कुशल जानकार व्यक्ति की सहायता ले ली जाये तो प्राय: बीमारी के प्रसार को कम से कम किया जा सकता है और हानि से बचा जा सकता है। जो स्वस्थ जानवर रोगपीड़ित जानवरों के सम्पर्क में रहे हों, उन्हें उपयुक्त टीके अथवा सीरम से सुरक्षित कर लिया जाना चाहिए।

सूअरों के सामान्य रोग

सूअरों में पाये जाने वाले सामान्य संक्रामक रोगों के लक्षण तथा उनका प्रसार रोकने के लिए सावधानी के रूप में कार्यवाही की जानी चाहिए, उनका संक्षेप में यहां वर्णन किया गया है।

स्वाइन फीवर: बहुत ही संक्रामक रोग है। इसमें तापमान बहुत ऊंचा हो जाता है तथा लाल अथवा बैंगनी रंग के धब्बे कानों की चमड़ी पर, पेट पर तथा कानों की भीतरी तरफ प्रकट होते हैं। इसके अन्य लक्षण हैं: भूख का कम होना, कठिनता से सांस आना, खांसी, कमजोरी, उल्टियां आना और पेचिश।

इसे रोकने के लिए रोगी जानवरों को अलग कर देना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए और स्वास्थ्य के नियमों का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए। स्वस्थ सूअरों को टीके लगाये जाने चाहिएं।

पांव व मुंह आना (फुट एण्ड माउथ डिजीज): संक्रामक रोग है। इसके मुख्य लक्षण हैं: ऊंचा तापमान, फफोलों का होना, बाद में मुख की श्लेष्मक झिल्लियों में घावों का होना, पांवों में घाव होना और चलने तथा खाना चबाने में कठिनाई।

रोग पीड़ित जानवरों को पृथक् कर दिया जाना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन और साफ कर दिया जाना चाहिए। रोगाणु रोधक लोशनों को पांवों पर लगाया जाना चाहिए और उनसे मुंह धोया जाना चाहिए।

चेचक: बहुत ही संक्रामक रोग है। इसमें बुखार हो जाता है, भूख कम हो जाती है और चमड़ी फट जाती है। कानों, गर्दन, जंघाओं की भीतरी सतह, और शरीर की अन्दरूनी सतह पर ही अधिकतर चमड़ी फटती है। बहुत ही रोगी जानवरों में शरीर के सभी भागों पर घाव हो सकते हैं।

रोग पीड़ित जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। उन्हें साफ एवं सुविधाजनक स्थान पर रखा जाना चाहिए। उन्हें हल्का भोजन दिया जाना चाहिए। घावों का उचित इलाज किया जाना चाहिए। सभी रोग पीड़ित जानवरों और उनके सम्पर्क में आने वाले जानवरों को मार देना अच्छा रहता है।

प्लेग: यह छूत का रोग है। प्राय: स्वाइन फीवर के बिगाड़ से ही यह रोग पैदा होता

है। इसमें सूअर का तापमान बहुत बढ़ जाता है व भूख कम हो जाती है। शरीर लड़खड़ाने लगता है। सांस लेने में कठिनाई होने लगती है। कभी कभी गला सूज जाता है और पेचिश अथवा अतिसार (डायरिया) हो जाता है। नाक, गुदा और मूत्रिक अंगों से रक्त स्राव भी हो सकता है।

रोग पीड़ित जानवरों को पृथक् कर दिया जाना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए। सम्पर्क में आने वाले जानवरों को टीका लगाया जाना चाहिए। इस रोग से मरे जानवर के लेटने आदि के काम आने वाले घास फूस को और उसके शव को जला देना चाहिए अथवा चूने के साथ गहराई में दबा दिया जाना चाहिए। रोग निरोधक कार्रवाई के रूप में स्वस्थ सूअरों को भी टीके लगा दिये जाने चाहिएं।

मुख सूजना (स्वाइन एरिसीपेलास): यह सूअरों में फैलने वाला संक्रामक रोग है। इस रोग में सूअरों का तापमान ऊंचा और चमड़ी पर घाव हो जाते हैं। ये कुछ उभरे से तथा हीरे के आकार के चिह्नों के होते हैं। कानों की चमड़ी पर लाली होती है, कानों के पीछे, जंघाओं और पेट की चमड़ी पर भी लाली हो जाती है। शुरू में तो कब्ज रहता है, बाद में आमतौर पर पेचिश हो जाती है।

रोग पीड़ित जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए। सम्पर्क में आनेवाले सभी सूअरों को सुरक्षित करने के लिए 'एण्टीसीरम' की एक खुराक दी जानी चाहिए। इससे लगभग दो सप्ताह के लिए वे रोग से प्रभावित होने से बचे रहेंगे। इस बीमारी से अधिक लम्बे समय तक के बचाव के लिए अप्रैल व मई में टीके लगाये जा सकते हैं।

खुराक, रहने के स्थान और प्रबन्ध व्यवस्था की कमियों को दूर कर दिया जाना चाहिए। स्वास्थ्यकर परिस्थितियां बड़ी कठोरता से रखी जानी चाहिएं।

एन्थ्रेक्स अथवा गिल्टी रोग: सूअरों को होनेवाला अत्यन्त घातक रोग है। यह है भी बहुत संक्रामक। इसमें सूअर का तापमान बढ़ जाता है, गला सूख जाता है और खून के रंग का पेशाब आने लगता है तथा उसे सांस लेने में दिक्कत होने लगती है।

रोग से पीड़ित सूअरों के लेटने आदि के काम आने वाले घास फूस और मरे सूअरों के शरीर को बड़ी सावधानी से दफनाया जाना चाहिए। मरे सूअर का शरीर खोलने नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह बीमारी तो मनुष्यों को भी लग सकती है। जिन स्थानों पर यह बीमारी स्थानिक रूप में फैली हो, वहां जानवरों को बीमारी से बचाने के लिए टीके लगा दिये जाने चाहिएं। यदि बीमारी फूट भी पड़े तो एण्टी एन्थ्रेक्स सीरम का प्रयोग किया जाना चाहिए।

तपेदिक: तपेदिक दीर्घकालिक छूत की बीमारी है। इसमें बुखार आ जाता है और पिण्डाकार फफोले शरीर के किसी भी भाग में पैदा हो जाते हैं। इस रोग से पीड़ित मुर्गे मुर्गियों अथवा अन्य मवेशियों से यह बीमारी सूअरों को लग सकती है।

जिस समय इस बीमारी का सन्देह हो तो सारे के सारे सूअरों की जांच कर ली जानी चाहिए। जिन सूअरों के इस बीमारी से पीड़ित होने की आशंका हो, उन्हें काट दिया जाना

चाहिए। मरे सूअरों के शरीर और उनके लेटने आदि के काम आनेवाले घास फूस को सावधानी से नष्ट किया जाना चाहिए। स्वास्थ्यकर कदम कठोरता से उठाने चाहिएं।

संक्रामक पेचिश: सूअरों में होने वाला आम रोग है। इस बीमारी के मुख्य लक्षण हैं: हल्का बुखार, निष्क्रियता और बाद में गहरे रंग का खूनी दस्त आना। सूअर अधिकांश समय लेटा रहता है और बड़ी जल्दी से दुबला होने लगता है।

इस रोग से पीड़ित सूअरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। रोग प्रभावित सूअरों के काम आये घास फूस और मल को सावधानी से नष्ट किया जाना चाहिए। खुराक में अनाज बन्द किया जाना चाहिए। अधिक खाना न देकर हल्का खाना ही दिया जाना चाहिए।

सूअर के बच्चों को होने वाला इन्फ्लुएंजा: यह संक्रामक रोग प्राय: छोटी उम्र के सूअरों में होता है। इसके मुख्य लक्षण हैं: तापमान का बढ़ना, नाक और आंख से स्त्राव, खांसी, निमोनिया, प्लूरसी और जोड़ों, विशेष करके पिछले अंगों के जोड़ों, का सूजना।

इस बीमारी को रोकने के लिए सभी स्वस्थ जानवरों को अलग कर दिया जाना चाहिए। सूअरों को शुष्क और साफ स्थानों पर रखा जाना चाहिए। उनके लेटने के लिए अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए और उन्हें गर्म रखा जाना चाहिए।

5. घोड़े, खच्चर और गधे

परिचय

घोड़ा सम्भवत: उन जानवरों में है जिन्हें बहुत प्रारम्भ में ही मनुष्य ने पालतू बना लिया था। घोड़े, खच्चर और गधे नस्ल की दृष्टि से आपस में चचेरे भाई ही हैं। वे सब एक पादांगुलि वाले स्तनपायी प्राणी हैं। उनकी पादांगुलियां सुम में बन्द होती हैं। ऐसा माना जाता है कि आधुनिक घोड़ा एक ऐसे जानवर का वंशज है जो आकार में लोमड़ी से बड़ा न था। 30 लाख वर्ष की अवधि में घोड़ा विकास के कम से कम 12 सुस्पष्ट चरणों में से गुजरा है। सारी दुनिया में आज पालतू घोड़ों की कम से कम 60 विभिन्न नस्लें हैं।

कहावतों में तो घोड़ा अपनी सहज बुद्धि के लिए प्रसिद्ध है। अनादि काल से घोड़ा खेल के और काम के लिए मनुष्य के उपयोग में आता रहा है। पिछले जमाने में युद्धों में भी घोड़ों का खूब इस्तेमाल होता रहा है।

घोड़ा उपयोगी जानवर है। विशेष रूप से तेज और आसान परिवहन के साधन के रूप में तो यह बहुत ही उपयुक्त है। पहाड़ियों और तराई क्षेत्रों में घोड़े ही परिवहन के एकमात्र साधन हैं। गांवों में अनेकों लोग अपने दैनिक कार्य के लिए उन्हीं पर निर्भर करते हैं। थोड़ी थोड़ी दूर तक भार अथवा यात्री ले जाने के लिए घोड़ा अपेक्षतया सस्ता परिवहन है। ऐसा कहा जाता है कि घोड़े चलने चलने में ही अपनी रोजी कमा लेते हैं।

सड़क परिवहन के यान्त्रिक साधनों के अधिकाधिक प्रयोग के कारण पशुधन उद्योग को जो धक्का लगा है, उसके बावजूद भारत में अभी तक घोड़ों की देसी नस्लों के रूप में बहुमूल्य पशु धन विद्यमान है और इसका विकास किया जा सकता है। अधिकांश भारतीय नस्लों के घोड़ों से जो विशेष कार्य अपेक्षित होते हैं, उनके लिए वे बहुत उपयुक्त होते हैं।

1982 की पशुधन गणना के अनुसार भारत में 9 लाख घोड़े और टट्टू थे। जब कि 1977 में इनकी संख्या 9 लाख 10 हजार तथा 1972 में 9 लाख 40 हजार और 1966 में 15 लाख 10 हजार थी। उपलब्ध आंकड़ों से ज्ञात होता है कि घोड़ों की संख्या में निरंतर गिरावट आयी है। राज्यवार बिहार में 1 लाख 10 हजार, जम्मू और कश्मीर में 1 लाख, मध्यप्रदेश में 1 लाख 10 हजार, पंजाब में 1 लाख 10 हजार और उत्तरप्रदेश में 2 लाख 10 हजार घोड़े हैं।

घोड़ों की प्रमुख नस्लें

काठियावाड़ी, मारवाड़ी, भूटिया, मणिपुरी और **स्पीती** आदि भारतीय घोड़ों की कुछ प्रमुख नस्लें हैं।

काठियावाड़ी : ऐसा माना जाता है कि काठियावाड़ी नस्ल का जन्म आयात किये गये अरब स्टेलियनों से हुआ था। इन घोड़ों से भरा एक जहाज भारत के पश्चिमी तट पर टकरा

कर नष्ट हो गया था। इस नस्ल के घोड़े अधिकांशत: गुजरात राज्य के काठियावाड़ प्रदेश में पाले जाते हैं।

काठियावाड़ी घोड़े का सिर अरबी घोड़े के सिर के समान होता है। कानों के सिरे माथे के मध्य की तरफ मिलने को होते हैं। इन घोड़ों की पिछली टांगों के घुटने प्राय: दरांती के आकार के होते हैं। ये घोड़े आमतौर पर भूरे, लाल और धूसर रंग के होते हैं।

काठियावाड़ी घोड़े बहुत ही चुस्त, सुन्दर और भव्य होते हैं। वह कठिन परिस्थितियों को सह लेता है। उसकी हड्डी बड़ी मजबूत होती है और काम बड़ी सहजता से करता है। उसकी चाल और वेग की बड़ी ख्याति है।

मारवाड़ी : इस घोड़े का सम्बन्ध राजपूताना के राठौर सरदारों की बहादुरी के कारनामों से जुड़ा हुआ है। इस नस्ल के घोड़ों का मूल स्थान राजस्थान राज्य का मारवाड़ प्रदेश है।

मारवाड़ी नस्ल के घोड़ों की विशिष्टताएं काठियावाड़ी नस्ल के घोड़ों से मिलती जुलती हैं। ऐसा माना जाता है कि इन दोनों नस्लों के घोड़े एक ही पूर्वज के वंशज हैं। उनमें जो छोटे मोटे अन्तर हैं, वे उनके रहने के पर्यावरण और जलवायु के अन्तर के कारण हैं। ये घोड़े सामान्यत: लाली लिये भूरे अथवा चेस्टनट रंग के होते हैं। मारवाड़ी घोडे शाही, कुलीन और खूबसूरत होते हैं। अपनी चाल, वेग और सहनशक्ति के लिए वे विख्यात हैं।

भूटिया : ये घोड़े तिब्बत सीमान्त के साथ साथ नेपाल के कुछ भागों में पंजाब से लेकर पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग तक हिमालय की तलहटी में पाले जाते हैं।

इस नस्ल के घोड़ों की मुख्य विशेषता है: सुगठित शरीर, छोटी व मोटी गर्दन, मजबूत पीठ, पक्की हड्डी, गोल मांसपेशियों से युक्त पिछला और अगला धड़, मोटे बालोंवाली टांगें, लम्बी दुम व जत। एड़ियों पर पांव काफी खुले होते हैं। इस जाति के घोड़ों का रंग प्राय: धूसर और लौह धूसर होता है, यद्यपि कभी कभी लाल भूरे और गहरे रंग के धूसर और सफेद धब्बे वाले घोड़े भी मिलते हैं।

पर्वतीय क्षेत्रों में सवारी और भारवहन के लिए ये घोड़े बड़े लोकप्रिय हैं।

मणिपुरी : टट्टू शताब्दियों से मणिपुर राज्य में पाले जाते हैं। इनका आकार तो यद्यपि छोटा होता है, परन्तु इनका शरीर सन्तुलित अनुपात में होता है। सिर इनका छोटा होता है और मांसपेशियों वाली मजबूत गर्दन पर खूब जंचता है। चेहरा लम्बा, थुथनी काफी चौड़ी और फैले हुए नथुनों वाली होती है। छाती चौड़ी और पसलियां सुगठित होती हैं। टांगें बहुत बढ़िया किस्म की होती हैं। पिछली टांग के घुटने मजबूत होते हैं। एड़ी के ऊपर से लेकर दुम तक बड़ी क्रमिक और अनुपातिक ढाल होती है।

मणिपुरी नस्ल के टट्टू अपनी चाल और वेग के लिए विख्यात हैं। ये बड़े मजबूत होते हैं और इनके पांव खूब जमकर पड़ते हैं। पोलो, घुड़दौड़ और सैनिक परिवहन के लिए इनकी बड़ी मांग रहती है।

स्पीती : कांगड़ा जिले के कुल्लू सबडिवीजन के स्पीती भू भाग में स्पीती नस्ल के टट्टू पाये जाते हैं।

इस नस्ल के टट्टू बड़े ठुके बदन के होते हैं। उनका सिर बहुत सुन्दर होता है। कान नोकदार तथा हड्डी मजबूत होती है। पांव गोल, टांगें मोटी और लम्बी व बालों से ढंपी होती हैं। उनकी

पसलियां सुगठित तथा अगले और पिछले धड़ खूब विकसित होते हैं। इस नस्ल के टट्टू प्राय: गहरे धूसर, लौह धूसर तथा हरापन लिए भूरे रंग के होते हैं।

स्पीती नस्ल के टट्टू कठोरता सहन कर पाने वाले होते हैं। वे खूब जमकर चलते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में तो वे विशेष उपयुक्त रहते हैं। लम्बी यात्राओं के लिए आवश्यक दम, खराब मौसम सहने की शक्ति और मामूली सी खुराक पर भी बने रहने की क्षमता के कारण ये काफी विख्यात हैं। ये टट्टू प्राय: भार उठाने और घुड़सवारी के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं।

इन नस्लों के अतिरिक्त बलूची, हिरजयी और अनमोल आदि पाकिस्तानी नस्लों के घोड़े भी भारत में पाये जाते हैं। भारत में घुड़सवारी, घुड़दौड़ और पोलो के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले घोड़ों में अधिकांशत: अरबी और थारोब्रेड नस्लों का अंश होता है। अरबी और थारोब्रेड नस्लों के घोड़े तो विश्व भर में विख्यात हैं। अरबी घोड़ों की नस्ल सबसे प्राचीन मानी जाती है। आज के हल्के घोड़ों की सभी नस्लों का आधार भी उसे ही माना जाता है। भार उठाने और घुड़सवारी के लिए अरबी घोड़ों की नस्ल आदर्श मानी जाती है। दौड़ के घोड़े के रूप में थारोब्रेड का कोई मुकाबला नहीं। इस नस्ल का घोड़ा अपनी चाल, हिम्मत और सहनशक्ति के लिए प्रख्यात है।

कुछ समय हुआ, कोनीमारा नस्ल के घोड़ों को हिमाचलप्रदेश में आयात किया गया है। उन्हें पहाड़ी टट्टुओं की नस्ल सुधारने के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है।

घोड़ों का प्रजनन व पालन पोषण

अन्य पालतू जानवरों की तुलना में घोड़ों में सन्तानोत्पत्ति की गति कम है। उनका पालन अधिक कठिन है और उनकी गर्भावधि अधिक लम्बी है। बछेड़ी का यौवनारम्भ 15 से 18 मास से होता है, परन्तु 3 वर्ष या उससे अधिक उम्र होने तक उसका मेल नहीं करवाया जाना चाहिए। दौड़ के काम में आने वाली और नुमायश के लिए रखी घोड़ियों को तो गर्भधारण तभी करवाया जाता है जबकि उनके व्यावसायिक प्रयोग समाप्त हो चुके होते हैं। स्टेलियन (नस्ल सुधारने के लिए काम आने वाले घोड़े) 4½ से 5 वर्ष की उम्र तक परिपक्वता प्राप्त करते हैं। परन्तु उन्हें कभी कभी 3 वर्ष की उम्र में ही मेल करवाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

भारत में वसन्त के प्रारम्भ का समय घोड़ों के मेल करवाने के लिए अति उत्तम माना जाता है। वसन्त के अश्व शावकों की मृत्यु दर सर्दियों के अश्व शावकों की तुलना में कम होती है और इसका कारण है गर्म मौसम।

एक स्टेलियन 30 से 40 घोड़ियों के लिए छोड़ा जाता है। निश्चित संख्या इस पर निर्भर करती है कि स्टेलियन की उम्र क्या है और प्रति घोड़ी उसे कितनी बार मेल करना है। अनुकूलतम परिस्थितियों में तथा प्रबन्ध व्यवस्था बहुत अच्छी होने पर प्रति घोड़ी स्टेलियन को दो या तीन बार मेल करना पड़ता है। सामान्य परिस्थितियों में तो जितनी घोड़ियों का मेल करवाया जाता है, उनमें से केवल 50 प्रतिशत घोड़ियां ही गर्भ धारण कर जीवित बछेड़े पैदा करती

हैं। किसी भी प्रजनन फार्म के लिए 70 प्रतिशत की औसत अच्छी मानी जाती है।

अधिकतर अश्व पालक सप्ताह में 5 बार ही मेल के लिए स्टेलियन के उपयोग को ठीक मानते हैं। परन्तु मेल के मौसम में तो इनका और अधिक उपयोग प्राय: आवश्यक होता है। अधिक थकावट से घोड़े की मेल और प्रजनन शक्ति पर बुरा असर पड़ता है। मेल के मौसम में स्टेलियन का स्वास्थ्य बिगड़ने नहीं देना चाहिए। बछेड़ा देने के बाद 4 से 11 दिन के भीतर घोड़ी पुन: गर्मी पर आती है। इसे बछेड़ा गर्मी (फोलहीट) कहा जाता है। बछेड़ा देने के नौवें दिन बाद मेल करवाना तो सामान्य बात है। परन्तु यह मेल करवाया तभी जाना चाहिए यदि घोड़ी ने बछेड़ा सामान्य रूप से ही पैदा किया हो और वह बिल्कुल ठीक हो गयी हो।

घोड़ियों में गर्मी का चक्र औसतन 21 दिन का है। गर्मी की अवधि 7 से 9 दिन तक है। घोड़ी से मेल करवाने के सबसे अधिक परिणाम देने वाला समय तो है गर्मी की अवधि का अन्तिम भाग अर्थात् गर्मी शुरू होने के सातवें दिन बाद। सामान्यत: घोड़ी हर प्रसव पर एक ही बछेड़ा देती है। जुड़वां बछेड़े तो शायद ही कभी पैदा होते हों।

घोड़ी में गर्मी के लक्षण हैं: बेचैनी, बाहरी प्रजनन अंगों का ढीला पड़ना, बार बार पेशाब आना, भग से श्लेष्मक स्त्राव निकलना और मेल की तीव्र इच्छा व्यक्त करना।

मेल के समय स्वास्थ्य के नियमों का बड़ी कठोरता से पालन किया जाना चाहिए।

मेल हो चुकने के बाद घोड़ी को कुछ समय के लिए इधर उधर घुमाया जाना चाहिए ताकि उस पर और दबाव न पड़े। हर मेल के बाद स्टेलियन के प्रजनन अंगों को अच्छी तरह से धो लिया जाना चाहिए।

घोड़ी के पेट में बच्चा 340 दिन रहता है। गर्भधारण करने के बाद गर्भकाल की लगभग आधी अवधि तक तो घोड़ियां अपना कार्य सामान्य ढंग से करती रहती हैं। यद्यपि गर्भावधि के अन्तिम चार या पांच मास की अवधि में घोड़ी को अधिक काम नहीं करने दिया जाना चाहिए।

गर्भिणी घोड़ी का अयन ग्यारहवें मास फैल जाता है। बछेड़ा होने की जब सम्भावना हो उस सम्भावित तिथि से सप्ताह या दस दिन पहले घोड़ी को एक खुले कमरे में रख दिया जाना चाहिए। बछेड़ा होने से एक या दो दिन पहले थनों पर प्राय: मोम के मनके बन जाते हैं। कभी कभी तो अयन से दूध निकलने लगता है। प्रसव निकट आने के अन्य लक्षण हैं: दुम के पास दोनों तरफ की उभरी मांसपेशियों का अवनमन और भगोष्ठों का ढीला पड़ना। बछेड़ा होने से ठीक पहले घोड़ी बेचैन सी हो जाती है। लेटने के स्थान पर पैर मारती है और उसे पसीना आने लगता है। वह बार बार जमीन पर लेटकर उठती है। घोड़ियां प्राय: लेटे ही लेटे बछेड़ा जनती हैं।

बछेड़ा देती घोड़ी को अकारण छेड़ा नहीं जाना चाहिए। सामान्यत: बछेड़ा होने में अधिक समय नहीं लगता। संक्रमण से बचाव के लिए सावधानी के तौर पर बछेड़े के नाभि रज्जु पर आयोडीन लगा दी जानी चाहिए। प्रसव के बाद का मल लगभग एक या दो घण्टे में बाहर आता है। इसके निकलने के बाद घोड़ी के धड़ के पिछले भाग और दुम को धो दिया जाना चाहिए। गन्दे तथा मैले पदार्थों को हटा दिया जाना चाहिए और घोड़ी के लेटने के

लिए नया बिस्तर लगा देना चाहिए। प्रसव के बाद घोड़ी को गुनगुना पानी और चोकर का दलिया दिया जाना चाहिए। सामान्य रूप से बछेड़ा जन्म के 10 मिनट से लेकर एक घण्टे के बीच अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है। बछेड़े को उठाने के लिए बहुत जल्दी नहीं की जानी चाहिए। उठने योग्य होने के तुरन्त बाद ही बछेड़े को अपनी माता का दूध चूसना शुरू कर देना चाहिए। खीस अथवा घोड़ी का पहला दूध बछेड़े के लिए स्वास्थ्यप्रद और मृदुरेचक होता है। जन्म के समय बछेड़े का वजन प्राय: अपनी माता के वजन का 6 से 10 प्रतिशत होता है।

घोड़ी के दूध में 9.42 प्रतिशत ठोस पदार्थ होते हैं। गाय अथवा बकरी के दूध की तुलना में इसमें वसा और प्रोटीन तत्व बहुत कम होते हैं। घोड़ी के दूध में औसतन 2.05 प्रतिशत प्रोटीन, 1.14 प्रतिशत वसा, 5.87 प्रतिशत शर्करा, 0.36 प्रतिशत खनिज और 90.58 प्रतिशत जल होता है।

घोड़ों की खुराक

घोड़ा तृण भक्षी जानवर है, परन्तु गाय अथवा ऊंट की तरह यह जुगाली नहीं करता। जुगाली करने वाले अन्य रोमन्थी जानवरों की तरह घोड़े के पेट में चार कक्ष नहीं होते। घोड़े के पेट में तो मनुष्य के पेट की तरह एक ही कक्ष होता है। घोड़े का आमाशय अपेक्षतया छोटा होता है। इसमें केवल 10 से 18 लिटर जगह होती है। इसलिए घोड़े को अधिक बार और थोड़ी मात्रा में खुराक दी जाने की आवश्यकता होती है। घोड़ा बहुत देर तक बिना खाये नहीं रह सकता। इसके विपरीत, अनेक अच्छे घोड़ों को अधिक भोजन करवाये जाने के कारण हानि सहन करनी पड़ती है। जब कभी स्वास्थ्य सुधारने के लिए घोड़े को अतिरिक्त खुराक देनी हो तो यह अच्छा रहता है कि उसे खुराक अधिक बार दी जाये बजाय इसके कि खुराक की मात्रा बढ़ा दी जाये।

घोड़े को नियम से भोजन कराना बहुत ही महत्वपूर्ण है। प्राय: अनाज देने से पहले घोड़े को सूखी घास खिलायी जाती है। यद्यपि कटी हुई सूखी घास तो अनाज के साथ भी खिलायी जा सकती है। कठोर श्रम के बाद घोड़े को पूरा भोजन नहीं करवाया जाना चाहिए। न ही थके हुए घोड़े को पूरा भोजन दिया जाना चाहिए। घोड़ों के पाचन तन्त्र में खराबी आने का सामान्य कारण यही होता है। घोड़े की खुराक में परिवर्तन धीरे धीरे ही किया जाना चाहिए क्योंकि एकाएक परिवर्तन से उसके पेट में भीषण शूल पैदा हो सकता है। सम्भव है कि यह उसके लिए घातक सिद्ध हो। दाना देने से पहले घोड़े को पानी पिलाया जाना चाहिए। घोडे को कभी भी बासी, फफूंद लगी और खराब चीज नहीं दी जानी चाहिए।

घोड़े को सदा ही अलग अलग दाना खिलाया जाता है। प्रत्येक घोड़े को खाना इसी हिसाब से खिलाना चाहिए कि उससे किस तरह का काम लेना है। मेल के मौसम में स्टेलियनों, गर्भवती घोड़ियों तथा बढ़ रहे बछेड़ों को बड़ी उदारता से दाना दिया जाना चाहिए। गर्भवती घोड़ियों के राशन में प्रोटीन, खनिज और विटामिन काफी अधिक होने चाहिएं। उनका भोजन खूब सन्तुलित होना चाहिए। हां, वह ऐसा नहीं होना चाहिए कि घोड़ी मोटी हो जाये। बछेड़ों

और एक वर्षीय घोड़ों की वृद्धि के लिए उन्हें अच्छी तरह से दाना दिया जाना चाहिए।

घोड़ों की सामान्य खुराक

घोड़े को खिलाने के लिए अनाजों में जई सबसे उपयुक्त है। इसे खिलाने से किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं रहती। जई में इतना प्रोटीन होता है कि जब इसको सूखे घास के साथ खिलाया जाता है तो यह सन्तुलित खुराक बन जाती है। प्रायः साबुत जई ही घोड़ों को खिलायी जाती है। कई बार पिसी जई भी उन्हें दी जाती है। घोड़े को खिलाने के लिए जौ और चना आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है। जौ और चने को हमेशा पीसकर ही खिलाया जाना चाहिए। गेहूं का चोकर काफी स्वादु और मृदुरेचक होता है। राशन में जई के अधिकांश भाग के स्थान पर इसका इस्तेमाल किया जा सकता है। चोकर में फॉस्फोरस तो अधिक होता है परन्तु कैल्शियम कम। यह कमी अच्छा भूसा खिलाकर दूर की जा सकती है। चोकर आमतौर पर सूखा ही खिलाया जाता है परन्तु गर्म पानी के साथ लेई बनाकर भी खिलाया जा सकता है। अलसी घोड़ों के लिए प्रोटीन से भरपूर खुराक है। घोड़े की चमड़ी में ताजगी और चमक लाने के लिए यह विशेष उपयोगी है। जहां सीरा उपलब्ध हो, अनाज के स्थान पर आंशिक रूप से उसे भी दिया जा सकता है। सीरा आमतौर पर जल द्वारा पतला करके दाने के साथ मिला कर दिया जाता है।

घोड़ों के लिए सबसे स्वाभाविक भोजन तो चरागाहों की घास है। उनके शीघ्र स्वस्थ विकास के लिए अच्छी चरागाहें आवश्यक हैं। घास न केवल नीरोग रखने की दृष्टि से ही सर्वश्रेष्ठ भोजन है बल्कि इससे घोड़े के भोजन पर होने वाला खर्च भी कम होता है। गर्भवती घोड़ियों और बछेड़ों के लिए तो हरी घास विशेष रूप से उपयोगी है। घोड़ा यद्यपि चुनी हुई चीजें ही चरता है, परन्तु फिर भी उसे दलदल वाले अथवा ऐसे स्थानों पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए जहां पानी ठहरा हो।

रिजका (ल्यूसर्न) तथा अन्य फलीदार घास घोड़ों को खिलाने के लिए आमतौर पर इस्तेमाल की जाती है। दूब घास भी बड़ी लोकप्रिय है। घोड़े गाजर भी बड़े स्वाद से खाते हैं। खाने के लिए दिया जाने वाला सूखा भूसा अथवा घास बहुत ही साफ और धूलरहित होनी चाहिए।

घोड़ों के लिए, विशेष रूप से गर्भवती और स्वास्थ्य लाभ करती घोड़ियों के लिए, नमक और खनिज अति आवश्यक है। घोड़ों को प्रतिदिन 28 से 56 ग्राम खनिज मिश्रण दिया जाना चाहिए। उसमें बारीक पिसा हुआ चूने का पत्थर वाष्पित अस्थिचूर्ण (बोनमील) और नमक होना चाहिए। आयोडीन की कमी वाले क्षेत्रों में आयोडीन मिश्रित लवण मिलाया जाना चाहिए।

आमतौर पर काम करने वाले बड़े घोड़ों को प्रतिदिन 2.5 से 3.5 किलोग्राम अनाज मिश्रण और लगभग 6.5 किलोग्राम सूखा भूसा दिया जाता है। अनाज का राशन तो दो या उससे अधिक बार में दिया जाना चाहिए। एक बार में उतनी ही मात्रा दी जानी चाहिए जितनी वह लगभग 30 मिनट में खा ले। टांगा चलाने के लिए काम आने वाले टट्टुओं को प्रतिदिन 2 किलोग्राम चना, 0.7 किलोग्राम पिसा जौ, 0.7 किलोग्राम गेहूं का चोकर, 4.5 किलोग्राम सूखा भूसा और 28 से 56 ग्राम नमक अथवा खनिज मिश्रण दिया जाना चाहिए।

जब हरी घास भी उपलब्ध हो तो आधा किलोग्राम सूखे भूसे के स्थान पर 1.5 किलोग्राम हरी घास दी जानी चाहिए।

पानी

घोड़ों को नियमित समय पर पर्याप्त मात्रा में ताजा जल दिया जाना चाहिए। काम के तुरन्त पहले अथवा बाद में उन्हें जल नहीं दिया जाना चाहिए। घोड़ा औसतन 45 से 55 लिटर जल एक दिन में पीता है।

सामान्य प्रबन्ध

घोड़े की बड़ी चतुराई से देखभाल की जानी चाहिए। कारण यह कि घोड़े प्राकृतिक रूप से दुष्ट अथवा बुरे स्वभाव के तो कम ही होते हैं। परन्तु ठीक प्रकार से देखभाल न किये जाने के कारण अनेकों का स्वभाव बिगड़ जाता है। घोड़ों से बड़ी दृढ़ता से परन्तु प्रेम से बरताव किया जाना चाहिए। घोड़े से हमेशा प्यारभरे लहजे में बात करनी चाहिए। उससे दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए। घोड़े को जब प्रेमपूर्वक थपकी दी जाती है, तो वह बड़ा उत्साहित हो जाता है।

घोड़ों का प्रशिक्षण

किसी भी आयु के घोड़े को फिराया और प्रशिक्षित किया जा सकता है; परन्तु घोड़ा जब कम उम्र का है तभी फिरा लेना अथवा प्रशिक्षित करना अधिक अच्छा रहता है। घोड़े की उम्र जितनी ही कम होगी, उसकी देखभाल करना उतना ही आसान होता है। बछेड़े को छोटी उम्र से ही आमतौर पर देखभाल में ले लेना चाहिए। बीच बीच में फिराते रहना चाहिए। एक या दो मास की उम्र से ही बछेड़ों को अनुगमन करवाना सिखाया जाना चाहिए। प्रारम्भ में तो उन्हें माता के साथ उस समय ले जाया जाना चाहिए जबकि उसे जल पिलाने अथवा कसरत के लिए बाहर ले जाया जा रहा हो। काठी घोड़ों को सवारी के लिए अथवा गाड़ी खींचने के लिए दो वर्ष की उम्र से ही तैयार किया जा सकता है। परन्तु 3 वर्ष की उम्र तक उनसे कठिन काम नहीं लिया जाना चाहिए। घोड़े को धीरे धीरे ही पूरे काम पर लाया जाना चाहिए। बछेड़े के प्रशिक्षण के लिए बहुत धैर्य और सावधानी की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण पुरस्कार अथवा दंड की प्रणाली पर होना चाहिए। काम के तुरन्त बाद ही घोड़े को काम के अनुसार दंडित अथवा पुरस्कृत किया जाना चाहिए। घोड़े मुख्य रूप से आदेश पालन कार्य व आदेश के बीच संबंध जोड़कर ही सीखते हैं। इसलिए इच्छित अनुक्रिया के लिए सदा ही एक शब्द अथवा संकेत का इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

बछेड़ों से दूध छुड़ाना

बछेड़ों से 5 से 6 मास की उम्र में दूध छुड़वाया जाता है। दूध पहले छुड़वा लेने से उनके समुचित विकास में बाधा पड़ सकती है। दूध छुड़वाने के बाद यह अति आवश्यक है कि बछेड़े को घोड़ी से बिल्कुल पृथक् रखा जाये। बछेड़ों और बछेड़ियों को इकट्ठा रखा जा

सकता है और एक साथ दौड़ने भी दिया जा सकता है। उनकी उम्र एक वर्ष होने तक ऐसा किया जा सकता है।

कसरत

अच्छी कसरत से घोड़े का शरीर मजबूत बना रहता है। उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है। घोड़े को प्रतिदिन नियमित रूप से कसरत करवानी चाहिए। गर्भवती घोड़ियों, बीजाश्वों (स्टेलियनों) और बछेड़ों के लिए पर्याप्त मात्रा में व्यायाम करना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। मेल की ऋतु में तो आठ से दस किलोमीटर दूरी तक गाड़ी खिंचवाकर अथवा सवारी करवा कर स्टेलियनों को पर्याप्त व्यायाम करवाया जाना चाहिए।

दिन का काम शुरू करने के समय घोड़ों को धीरे धीरे गर्म किया जाना चाहिए। इसके बाद ही उनसे अत्यधिक थकाने वाला काम करवाया जाना चाहिए।

खरहरा करना

घोड़ों को स्वस्थ रखने के लिए उन्हें नियमित रूप से अच्छी तरह खरहरा करने की आवश्यकता है। ठीक प्रकार से खरहरा किया जाने से घोड़ा साफ रहता है और उसकी चमड़ी में चमक आती है। मालिश करने से रुधिर संचरण तेज होता है और घोड़े का स्वास्थ्य सुधरता है और वह अधिक सुन्दर दिखायी देने लगता है। यह एक तरह से निश्चेष्ट कसरत है।

जिस घोड़े से काम न लिया जा रहा हो, उसको अधिक अच्छी तरह से खरहरा करने की आवश्यकता होती है। काम पर जाने से पहले घोड़े को हल्के हाथ से खरहरा किया जाना चाहिए पर काम से लौटने पर खरहरा खूब अच्छी तरह किया जाना चाहिए। खरहरा करते समय घोड़ा ठंडा और सूखा होना चाहिए। सिर और टांगों के कोमल भागों पर खरहरा करते समय ब्रुश इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

घोड़े पर नाल चढ़ाना

अच्छे घोड़े का सुम अच्छा होना चाहिए। 'नाल के बिना घोड़ा बेकार' एक पुरानी कहावत है। बछेड़े की उम्र जब एक मास हो जाये, तभी से उसके सुम की देखभाल की जानी चाहिए। प्रायः दो से तीन वर्ष तक की उम्र से पहले घोड़ों के पांवों के बाल नहीं काटे जाते। सुम प्रति मास 8 मिलिमीटर के लगभग बढ़ते हैं। छोटी उम्र के घोड़े के सुम प्रति 6 सप्ताह बाद काटने की आवश्यकता होती है।

घोड़ों के रहने का स्थान

घोड़ों को स्वास्थ्यप्रद और सुविधाजनक अस्तबलों में रखा जाना चाहिए। अस्तबल इस तरीके से बनाये जाने चाहिएं कि खराब मौसम, अत्यधिक गर्मी, ठंड और वर्षा से उनका बचाव हो जाये। हवादार और ठंडे कमरे गर्म और बन्द अस्तबलों की तुलना में अधिक ठीक रहते हैं।

अस्तबल जहां बनाया जाये, वह स्थान आसपास के क्षेत्र से कुछ अधिक ऊंचाई पर

होना चाहिए। वहां पर जल और नालियों की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। अस्तबलों को अनावश्यक रूप से महंगा नहीं बनाया जाना चाहिए। अस्तबलों को काफी खुला होना चाहिए ताकि खड़े रहने और सुविधा से लेटने के लिए घोड़े को काफी स्थान मिले।

फर्श ऊंचा नीचा नहीं होना चाहिए और न ही पानी सोखने वाला। इसकी सतह खुरदरी होनी चाहिए ताकि घोड़ा फिसले नहीं। घोड़े को गीले फर्श पर खड़ा नहीं होने देना चाहिए। इससे उसका सुम नरम पड़ जाता है और इससे पैर में कई खराबियां आ जाती हैं।

अस्तबल हमेशा साफ और सूखे रखे जाने चाहिएं। घोड़े के लेटने के लिए भूसे की उपयुक्त गद्दी होनी चाहिए। गीले और गन्दे बिस्तर से घोड़े को चर्म रोग हो सकते हैं।

शीत ऋतु में काम करवाने के बाद घोड़े को कम्बल से ढांप देना चाहिए।

घोड़े की उम्र का निर्धारण

घोड़े की आयु का निर्धारण प्राय: उसके दांतों को देखकर किया जाता है। घोड़े के ऊपरी और निचले जबड़े में तीन तीन जोड़ियां छेदक दांतों की होती हैं। छेदक दुग्ध दांतों की पहली जोड़ी उस समय ही निकल आती है जबकि बछेड़ा दो सप्ताह का भी नहीं हुआ होता। दूसरी जोड़ी चार से आठ सप्ताह के बीच की उम्र में निकलती है और कोने की तीसरी जोड़ी 6 से 9 मास के बीच। एक वर्ष के बछेड़े के ऊपरी और निचले जबड़ों में पूरे के पूरे छ: छेदक दुग्ध दांत होंगे।

स्थायी केन्द्रीय छेदक दांत $2\frac{1}{2}$ वर्ष बाद फटने शुरू हो जाते हैं। 3 वर्ष की आयु के घोड़े के प्रत्येक जबड़े में स्थायी छेदक दांतों की एक जोड़ी होती है। चार वर्ष के घोड़े में दो जोड़ियां और पांच वर्ष के घोड़े में स्थायी छेदक दांतों की तीन जोड़ियां होती हैं। इस उम्र में घोड़े को पूरे मुंह वाला कहा जाता है।

घोड़ा ज्यों ज्यों बड़ा होता जाता है, उसके दांत घिसने शुरू हो जाते हैं। 5 से 12 वर्ष तक के बीच में घोड़े की आयु का अनुमान इस बात से होता है कि दांत की सतह पर चषक है या नहीं। घोड़ा 10 से 12 वर्ष की आयु का हो जाता है तो इसके छेदक दांतों के सारे चषक लुप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में घोड़े को मुलायम मुंह वाला कहा जाता है।

घोड़ा 40 वर्ष की उम्र तक जीवित रह सकता है परन्तु घोड़े की काम देने की औसत अवधि 12 से 15 वर्ष तक है।

गधे

घोड़ा-परिवार का सबसे सरल और निस्वार्थ सदस्य है गधा। यह जानवर बहुत ही कठोर जीवन सह सकता है और बिना विश्राम किये मामूली खुराक पर निरन्तर काम करता रह सकता है। मुख्य रूप से यह भार उठाने के काम आता है। यह जम कर चलने के कारण विख्यात है। नूबियन गधा आधुनिक गधे का पूर्वज माना जाता है। लगभग 4 हजार वर्ष ईसा पूर्व मेसोपोटामिया और मिस्र में नूबियन नस्ल के गधे को पालतू बनाया गया था।

गर्म और कुछ कुछ शुष्क क्षेत्रों में गधे खूब काम करते हैं। गधे अपनी मूर्खता और हठ के कारण विख्यात हैं। सम्भवत: ये विशेषताएं अनंत काल से मनुष्य के उनके प्रति दुर्व्यवहार का ही परिणाम हैं। सहानुभूतिपूर्वक ठीक प्रकार से उनकी देखभाल करके इन दोषों को काफी कम किया जा सकता है।

भारत में 1982 में 10 लाख 20 हजार गधे थे। 1977 की संख्या से यह संख्या 4.7 प्रतिशत अधिक थी। राजस्थान में सबसे अधिक संख्या में गधे हैं। उत्तरप्रदेश का दूसरा स्थान है। उसके बाद गुजरात, तमिलनाडु और हरियाणा का स्थान है।

धूसर रंग के छोटे गधे और सफेद रंग के बड़े गधे—ये दो प्रकार के गधे ही भारत में प्राय: मिलते हैं। छोटा धूसर गधा देश के अधिकतर भागों में पाया जाता है। इसका रंग गहरा धूसर होता है। इसके अंगों पर जेबरा की तरह की पट्टियां होती हैं। ऐसी पट्टियां गर्दन और अगले व पिछले पुट्ठों पर होती हैं।

सफेद रंग का बड़ा गधा मुख्य रूप से गुजरात राज्य के काठियावाड़ जिले में पाया जाता है। इसका रंग हल्के धूसर से सफेद तक, कोई भी, हो सकता है।

गधों की महत्वपूर्ण विदेशी नस्लें हैं: सफेद मिस्री, दमिश्की, ईरानी, अरबी और फ्रांसीसी पोयतू। पोयतू गधा सम्भवत: सबसे बड़ा और भारतीय गधा सबसे छोटा होता है।

गधे से प्राय: 2½ से 3 वर्ष तक की उम्र में प्रजनन करवाया जाता है। गधों के मेल की कोई विशेष ऋतु नहीं होती। उनका मेल सारे साल करवाया जा सकता है। बड़ी आयु के गधे को सालभर में 160 गधियों से मिलाया जा सकता है। एक दिन में दो से अधिक बार मेल नहीं करवाया जाना चाहिए। गधियों के गर्भधारण की अवधि 11½ से 12 मास के बीच होती है। गर्मी की दो अवधियों में अन्तर 12 से 28 दिन का होता है। गर्मी की अवधि 3 से 7 दिन तक बनी रहती है। मेल करवाने का सबसे उपयुक्त समय तो वह होता है जब गधे को गर्मी में आये तीसरा दिन हो। प्रसव के 6 से 8 सप्ताह बाद उसे फिर गर्भधारण करवाया जा सकता है।

दूध की अवधि 6 से 12 मास तक रहती है। नवजात गधे को 6 मास की उम्र से दूध छुड़वाया जाता है। गधी प्राय: एक समय में एक ही बच्चा देती है।

गधी के दूध में 1.7 प्रतिशत वसा, 1.8 प्रतिशत प्रोटीन, 6.19 प्रतिशत शर्करा, 0.47 प्रतिशत खनिज और 90.12 प्रतिशत जल होता है। गधी का दूध बड़ा पाचक होता है। भारत, इटली, स्पेन और दक्षिणी फ्रांस आदि अन्य देशों में गधी के दूध का मानव दुग्ध के स्थान पर उपयोग करना ठीक माना जाता है।

गधे 3 से 5 किलोमीटर प्रति घण्टे की चाल से चलते हैं। वे दिन में 25 से 32 किलोमीटर तक की दूरी तय कर सकते हैं। भारवहन के लिए गधियों की बजाय गधे अधिक ठीक रहते हैं। गधों को भी घोड़ों की तरह नाल पहनायी जानी चाहिए। गधे प्राय: 16-17 साल तक काम देते हैं।

खच्चर

अश्व-जाति के पशुओं में सम्भवतः खच्चर सबसे अधिक उलझन में डाल देने वाला जानवर है। यह गधे और घोड़ी के मेल से पैदा होता है। इसके प्रतिकूल अर्थात् गधी और स्टेलियन टट्टू का मेल प्रायः नहीं करवाया जाता। नर और मादा खच्चर, दोनों ही, प्रजनन शक्ति से वंचित होते हैं।

जलवायु और खाद्य संबंधी प्रतिकूल अवस्थाओं को सहन करने की विशेष क्षमता के कारण खच्चर विख्यात हैं। भारवहन के काम आने वाले जानवरों में, विशेष रूप से पर्वतीय भूभागों में, सबसे अधिक इसे ही पसन्द किया जाता है। घोड़ों की तुलना में खच्चर की कम देखभाल करनी पड़ती है। पांव की विशेष तरह की बनावट और मोटी एवं मजबूत परत और तली के कारण खच्चरों को पांवों की लंगड़ाने की बीमारी कम होती है।

कहा जाता है कि खच्चर अपना स्वामी स्वयं होता है। ऐसा माना जाता है कि उसने बुद्धि तो घोड़े से पायी है और चाल की स्थिरता गधे से। खच्चर यद्यपि अपरिचितों से दूर भागते हैं, परन्तु वे प्रायः दुलत्तियां खुलकर मारते हैं।

हिमालय के साथ साथ उत्तरी पर्वतीय सीमान्तों के हाल में ही खुल जाने के कारण सैनिक कार्यों में उपयोगी हो जाने से खच्चर का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। तथापि इस समय भारत में खच्चरों की संख्या बहुत कम है। 1982 की पशुधनगणना के अनुसार भारत में 1 लाख 31हजार खच्चर थे। 1977 की संख्या से यह संख्या 47 प्रतिशत अधिक थी। उत्तरप्रदेश में इनकी संख्या 54 हजार है, जो सबसे अधिक है। राज्यवार पंजाब में 22 हजार, हरियाणा में 17 हजार, जम्मू व कश्मीर में 15 हजार तथा हिमाचल प्रदेश में 13 हजार खच्चर हैं।

खच्चरों को चालू हालत में रखने के लिए आवश्यक है कि उनकी निरन्तर देखभाल की जाये और उन पर ध्यान दिया जाये। उन्हें खिलाने और उनके अस्तबलों के प्रबन्ध के लिए वही सामान्य नियम लागू होते हैं जो घोड़ों की देखभाल और उनके अस्तबल की प्रबन्ध व्यवस्था के लिए। तथापि खच्चर घटिया चारे पर भी फल फूल सकते हैं। रोग का आक्रमण भी उन पर कम होता है। सेना में भार वाहक तोपखाना खच्चरों को प्रतिदिन राशन में 1 किलोग्राम से कुछ अधिक पिसा चना और इतना ही पिसा जौ, 9 किलोग्राम भूसा अथवा ल्यूसर्न भूसा और 28 ग्राम नमक दिया जाता है। हल्के भारवाही खच्चरों को इसके अतिरिक्त 1 किलोग्राम चोकर भी दिया जाता है।

खच्चर प्यास खूब सह सकते हैं, फिर भी उन्हें प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में पानी दिया जाना चाहिए। वे बहते नाले की अपेक्षा बाल्टी से जल पीना अधिक पसन्द करते हैं। खच्चर अच्छे तैराक होते हैं। वे खूब गहरे नाले पार कर सकते हैं।

खच्चरों को नियमित रूप से खरहरा किया जाना चाहिए। काठी उतार देने के बाद तो उन्हें बेरोकटोक मैदान पर लेटने देना चाहिए। कठोर भूमि पर काम कर रहे खच्चरों को घोड़ों की तरह ही नाल लगानी चाहिए।

खच्चर 3 से 4 वर्ष तक की उम्र का हो जाने के बाद प्रायः काम करने के योग्य समझा

जाता है। खच्चर सामान्यतः 5 किलोमीटर प्रति घंटे की चाल से चलता है। दिन में बड़ी आसानी से 24 से 32 किलोमीटर दूरी तय कर सकता है। खच्चर 18 से 20 वर्ष अथवा इससे भी बड़ी आयु तक काम कर सकते हैं।

अश्व-जाति के पशुओं का स्वास्थ्य

अश्व-जाति के पशु, विशेष रूप से घोड़े, अनेक रोगों से आक्रांत हो सकते हैं। इसलिए उन्हें स्वस्थ रखने के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। स्वस्थ जानवर सक्रिय और चंचल होता है। उसकी आंखें चमकदार होती हैं और कान प्रायः इधर उधर फड़कते रहते हैं। बालदार चमड़ी मुलायम और चमकीली होती है। जानवर को भूख ठीक लगती है। वह खूब जल पीता है और खूब सोता है। स्वस्थ घोड़ा सामान्यतः अपने दोनों अगले पांवों पर बराबर का वजन डाले रहता है। घोड़ा कभी भी अपनी सामने की टांगों पर नहीं बैठता जब तक कि वह रोगी न हो। जिस समय घोड़ा मजे में होता है तो पिछले पांव प्रायः एक रेखा में नहीं रखता वरन् एक पांव आगे और एक पांव पीछे रखता है।

रोग के प्रारंभिक लक्षण हैं: सुस्ती, भूख का घटना, पसीना अधिक आना, कानों का ढुलक जाना, ऊंचा तापमान, तेज सांस, नाड़ी की गति तेज, आंखों से स्राव, नथुनों से स्राव, पेचिश अथवा कब्ज, लंगड़ाना अथवा शरीर के किसी भाग में सूजन। विश्राम कर रहे घोड़े का सामान्य तापमान 37.8 दर्जे सेल्सियस (100 दर्जे फॉरनहीट) होता है। जानवर के उत्तेजित होने पर अथवा काम कर रहे होने पर तापमान बढ़ जाता है। घोड़े का तापमान आम डाक्टरी थर्मामीटर से लिया जा सकता है। थर्मामीटर को 3 मिनट तक मलाशय में डाले रखा जाता है।

विश्राम के समय घोड़े की नाड़ी की सामान्य गति 36 से लेकर 40 तक प्रति मिनट होती है। छोटी आयु के जानवरों में यह गति अधिक होती है। बहुत कठोर काम के बाद नाड़ी की गति 80 से 90 तक पहुंच जाती है, परन्तु 1 घण्टे के भीतर ही यह पुनः सामान्य गति पर लौट आती है। गाल की विशाल मांसपेशी के सामने वाले जबड़े की हड्डी को घेरने वाली धमनी पर उंगलियों के सिरों को रखकर नाड़ी की गति गिनी जा सकती है।

सामान्यतः घोड़े की श्वसन गति 8 से 16 तक प्रति मिनट होती है। परन्तु कुछ कठिन श्रम के बाद यह 70 या इससे अधिक तक बढ़ सकती है। स्वस्थ घोड़े में कसरत के बाद श्वसन गति कम होकर नाड़ी की तुलना में सामान्य स्तर पर जल्दी आ जाती है। पार्श्व अथवा नथुनों की गति को देख करके भी श्वसन गति निर्धारित की जा सकती है।

स्वस्थ घोड़ा लीद बार बार, 24 घंटे में लगभग 8 या 10 बार करता है। लीद प्रायः गोलों के रूप में ही करता है। ये इतने नरम होते हैं कि जमीन पर गिरते ही फट जाते हैं। घोड़ा दिन में अनेक बार पेशाब करता है। पेशाब का रंग हल्का पीला होता है।

गधों में शरीर का सामान्य तापमान 37.5 से 38 दर्जे सेल्सियस (99 5 से 100.4 दर्जे फॉरनहीट) तक होता है। श्वसन गति लगभग 15 प्रति मिनट और नाड़ी गति 38 प्रति मिनट होती है। खच्चरों में सामान्य तापमान, श्वसन गति और नाड़ी गति गधों के समान होती है।

अश्व-जाति के पशुओं के सामान्य रोग

इंफ्ल्युएंजा अथवा पिंक आई: यह घोड़ों में पाया जाने वाला सामान्य रोग है। इसके मुख्य लक्षण हैं तापमान का बढ़ना जो 3 से 4 दिन तक जारी रहता है, आंखें चमकदार और गुलाबी रंग की हो जाना, पलकें सूज जाना और उनमें जल बहने लगना, जोरदार खांसी और नथुने से काफी स्त्राव होना।

इस रोग की रोकथाम के लिए सभी संदिग्ध घोड़ों को पृथक् कर दिया जाना चाहिए। पीने के जल को क्लोरीन से शुद्ध किया जाना चाहिए। स्वास्थ्य रक्षा के लिए कठोर कदम उठाये जाने चाहिएं। नये नये खरीदे गये जानवरों को दो से तीन सप्ताह तक बिल्कुल पृथक् अस्तबल में रखा जाना चाहिए।

स्ट्रैंगल्ज: बहुत ही संक्रामक रोग है। इसके मुख्य लक्षण हैं: सुस्ती, तापमान का बढ़ना, दुखी रहना। आरम्भ में तो नथुने से हल्का तरल स्त्राव होता है। यह स्त्राव शीघ्र ही गाढ़ा हो जाता है और पीलापन लिये सफेदी इसमें आ जाती है। स्त्राव अधिक हो दोनों नथुनों से निकलने लगता है। बीच बीच में खांसी से गला दुखने लगता है। गले में ढेले की तरह का फोड़ा निकल आता है। इसका आकार धीरे धीरे बढ़ता है। जानवर को खाना निगलने और सांस लेने में कठिनाई होने लगती है।

इस रोग से पीड़ित जानवर को अलग कर दिया जाना चाहिए। अस्तबल, नांद और जल पिलाने के लिए इस्तेमाल होने वाले बर्तनों को अच्छी तरह कृमिविहीन किया जाना चाहिए। सरलता से पच जाने वाला और पौष्टिक दाना दिया जाना चाहिए। स्वस्थ हुए जानवरों को तुरन्त काम पर नहीं लगा दिया जाना चाहिए।

ग्लैंडर्स (फारसी) : यह बहुत ही संक्रामक और घातक रोग है। इसमें नथुने की श्लेष्मक झिल्लियों पर क्षत हो जाते हैं। वे हल्के फीके गंदे और कुछ कुछ नीले रंग के हो जाते हैं। सतही लसीकायनी वाहिकाएं (लिंफवेसल्ज) सूज जाती हैं। उनके मार्ग के साथ साथ छोटे छोटे उभार उठ खड़े होते हैं। मुकुल (बड़) फूट जाते हैं। वहां से क्रीम की तरह का पस निकलने लगता है जो बाद में किनारों पर गाढ़ा हो जाता है।

इस बीमारी को फैलने से रोकने के लिए रोगी प्राणी को नष्ट कर दिया जाना चाहिए। मरे जानवर को दबा अथवा जला दिया जाना चाहिए। जिन प्राणियों के इस रोग से पीड़ित होने की आशंका हो, उन्हें स्वस्थ प्राणियों से तुरन्त अलग कर दिया जाना चाहिए। रोगी जानवरों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले पानी पीने अथवा खाने के बर्तनों को स्वस्थ जानवरों के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहिए।

लसीकायनी शोथ (एपीजोयाटिक लिफांजाइटिस): यह भी एक बहुत संक्रामक रोग है। इसमें भी लसीकायनी वाहिकाएं सूजकर फट जाती हैं और उनमें क्षत हो जाते हैं। उनसे क्रीम की तरह का गाढ़ा पस निकलने लगता है। सभी अंग बहुत सूज जाते हैं। श्लेष्मक झिल्लियों में खून कम हो जाता है।

ऐसे सभी प्राणियों को, जिनके रोगी होने की आशंका हो, पृथक् कर दिया जाना चाहिए। रोगी प्राणियों को नष्ट कर दिया जाना चाहिए। रोगी जानवरों के संपर्क में आने वाले सभी बर्तनों को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए।

टिटेनस: इस रोग में जानवर को थोड़ी थोड़ी देर में पसीना आता है। बीच बीच में वह लीद करने लगता है। बाद में उसे कब्ज हो जाती है। दाना चबाना वह बंद कर देता है। दाना निगलने में उसे कठिनाई होने लगती है। नथुने फैल जाते हैं, होंठ खिंच जाते हैं और इससे दांत दिखने लगते हैं। शरीर के भिन्न भिन्न भागों में अकड़ाहट पैदा हो जाती है। दुम उठी और कांपती रहती है। जानवर अकड़ा हुआ चलता है और पांवों के साथ तिनकों को इधर उधर घसीट लेता है।

रोगी जानवर को अंधेरे और शांतिपूर्ण स्थान पर रखा जाना चाहिए। जब वह उत्तेजित अवस्था में हो तो उसे पानी से गीला नहीं किया जाना चाहिए। सभी घावों पर रोगाणुरोधक औषधि लगायी जानी चाहिए।

बृहदांत्र (कालिक) में पीड़ा : अश्व-जाति के जानवरों में यह बीमारी प्राय: पायी जाती है। जानवर बड़ी बेचैनी महसूस करता है। उसकी आकृति चिंताजनक हो जाती है। शरीर के सभी भागों में थोड़ी थोड़ी सूजन हो जाती है। जानवर लेट जाता है, लुढ़कता है और फिर उठ खड़ा होता है, दोनों तरफ देखता है और आगे की तरफ पेट पर दुलत्ती मारता है। श्वसन फूंक मारने की तरह हो जाता है। श्वसन गति भी तेज हो जाती है। थोड़ी थोड़ी मात्रा में मल करने लगता है। -

इस रोग की रोकथाम के लिए जानवर को कई बार थोड़ी थोड़ी मात्रा में दाना दिया जाना चाहिए। भोजन नियमित समय पर दिया जाना चाहिए। घटिया और खराब दाना नहीं दिया जाना चाहिए और न ही खाने में एकदम परिवर्तन किया जाना चाहिए। तेज काम में लगाने से पहले घोड़े को पूरा खाना नहीं देना चाहिए और न ही कठोर श्रम के बाद जानवर को ठंडा पानी ही दिया जाना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीकी घोड़ा रोग (साउथ अफ्रीकन हार्स सिकनेस): यह बहुत ही घातक और संक्रामक रोग है। यह बीमारी घोड़ों को बहुत जल्दी होती है। खच्चरों को कुछ कम और गधों को बिल्कुल कम होती है। अपेक्षतया गर्म और वर्षा के महीनों में यह बीमारी अधिक होती है। सर्दियों में यह बीमारी प्राय: बिल्कुल ही समाप्त हो जाती है। इस बीमारी से श्वसन तंत्र अथवा हृदय अथवा दोनों ही प्रभावित हो सकते हैं। जो भी अंग इस रोग से प्रभावित होता है, उसी के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं। बीमारी यदि अधिक चिंताजनक हो तो भिन्न लक्षण प्रकट होते हैं।

रोग के फुफ्फुस रूप में श्वसन तंत्र प्रभावित होता है। तापमान बढ़ जाता है। सांस लेने में कठिनाई होने लगती है और नथुनों से झाग वाला द्रव निकलता है। 36 घंटे के भीतर ही जानवर की मृत्यु हो जाती है। यह सब बीमारियों से अधिक खतरनाक है। इसमें मरने की दर 1(X) प्रतिशत तक हो सकती है।

इसका हृदय पर प्रभाव होता है। तापमान कुछ बढ़ जाता है। दिल की धड़कन कम हो जाती है, माथे पर सूजन आ जाती है और वक्ष तक फैल जाती है। आगे वाले अंग भी फूल जाते हैं। कभी कभी तो सूजन इतनी अधिक हो जाती है कि आंखों की पुतलियां भी बाहर निकल आती हैं। मरने से पहले तक जानवर थोड़ा थोड़ा चबाना जारी रखता है। मौत

से पहले तापमान सामान्य से भी कम हो जाता है। जानवर 3 से 4 दिन तक के भीतर मर जाता है। बीमारी के इस रूप से मरने की दर लगभग 95 प्रतिशत है। मरे जानवर के शरीर की चीरफाड़ करने पर यह पाया गया कि परिहृद (पैरीकार्डियम) फैला हुआ था और उसमें बहुत ही साफ तथा तिनके के रंग का काफी मात्रा में द्रव्य था।

रोग के मिश्रित रूप में हृदय और फुफ्फुस दोनों प्रभावित होते हैं। बीमारी का यही रूप अधिकांशतः भारत में पाया जाता है।

इस बीमारी की रोकथाम के लिए जानवर को मच्छरों के आक्रमण से बचाया जाना चाहिए क्योंकि वही बीमारी फैलाते हैं। रोग से बचाव के लिए टीके भी लगाये जाने चाहिएं। अस्तबल तथा उसके आसपास के क्षेत्र को बहुत साफ रखा जाना चाहिए। वर्षा ऋतु में जानवर को नियमित रूप से खरहरा करना चाहिए। वर्षा ऋतु में तालों और तालाबों से परे ऊंचे स्थान पर उसे हटा दिया जाना चाहिए। सायंकाल जानवर को चरागाह में नहीं रुकने देना चाहिए, वरन् अस्तबलों में बांधना चाहिए। जानवरों की जीवन शक्ति बनाये रखने के लिए उन्हें पौष्टिक खाना दिया जाना चाहिए।

6. ऊंट

परिचय

ऊंट को ठीक ही 'रेगिस्तान का जहाज' कहा गया है। गर्म, शुष्क, और रेतीले क्षेत्रों में परिवहन और भारवहन के लिए यह सचमुच ही सबसे अधिक उपयोगी पशु है। भूखा और प्यासा रह सकने की असाधारण शक्ति के कारण ऊंट को प्राय: विस्मयकारी पशु समझा जाता है। रेगिस्तान में यह कंटीली झाड़ियों पर भी जीवित रह सकता है। अन्य जुगाली करने वाले पशु तो इन परिस्थितियों में भूख से ही मर जाएं। मवेशियों, भेड़ों और बकरियों की तरह ऊंट भी जुगाली करने वाला जानवर है।

प्रकृति ने ऊंट को कई ऐसी विशेषताएं दी हैं जिनसे इसमें रेगिस्तानों में रहने की विशेष क्षमता है। इसका कूबड़ आपातकालीन खाद्य भण्डार के रूप में काम आता है। इसमें वसायुक्त ऊतक रहते हैं जिनके कारण बिना अधिक खुराक के ही यह सूखे की परिस्थितियों में भी जीवित रह सकता है। चमड़ी अधिक मोटी होने के कारण वाष्पीकरण से जल इसके शरीर से न्यूनतम मात्रा में ही उड़ता है। इसलिए तथा अन्य अनेक कारणों से ऊंट अन्य किसी स्तनपायी प्राणी की तुलना में कहीं अधिक लम्बी अवधि तक बिना पानी के जीवित रह सकता है। ऊंट के शरीर पर बड़े नफीस बाल होते हैं। वे पृथक्कारी के रूप में कार्य करते हैं और वायुमण्डल की अत्यधिक गर्मी से इसे बचाये रखते हैं। ऊंट के होंठों पर बड़ी कठोर चमड़ी होती है जिसके कारण यह कंटीले और कठोर पौधों को खा सकता है। लम्बी गर्दन के कारण ऊंचे ऊंचे वृक्षों की शाखाओं तक बड़ी सरलता से पहुंच सकता है। इसके मोटे पांवों की गद्दियां ढीली गर्म रेत पर बिना किसी कठिनाई के चलने में सहायक होती हैं। आंखों की लम्बी भौहें और कानों पर लम्बे बाल इसे रेगिस्तान की उड़ती रेत से बचाते हैं। रेत के तूफानों के दौरान ऊंट अपने नथुने भी बन्द कर सकता है। अत्यन्त उपेक्षित परिस्थितियों में और कठोर व्यवहार किये जाने पर भी असाधारण धैर्य रखता है। परन्तु अत्यन्त ही कठोर परिस्थितियों में कभी कभी इसमें जिद और बदले की भावना भी पैदा हो सकती है।

भारत में ऊंट सभी प्रकार के कामों के लिए खूब इस्तेमाल किया जाता है। इसे सवारी, भारवहन, हल चलाने, अनाज के दाने निकालने, गाड़ी चलाने, पनचक्कियां चलाने, गन्ना पेरने के लिए अथवा कोल्हू चलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। प्राय: एक ही ऊंट इन कामों में इस्तेमाल किया जाता है। यद्यपि कभी कभी ऊंटों की जोड़ी भी इस्तेमाल कर ली जाती है। प्राय: यह भी देखने को मिल जाता है कि ऊंट, बैल, भैंस अथवा अन्य किसी प्राणी, यहां तक कि गधे के साथ एक ही हल में जुता हुआ है। बिलोचिस्तान में तो कभी कभी महिला और ऊंट को इकट्ठे ही हल खींचते देखने को मिलता है। ऊंट ने सैनिक परिवहन के काम में विशेष ख्याति पायी है। ऐसा कहा जाता है कि अपने स्वामी के लिए भोजन पकाने के सिवाय ऊंट और सब काम कर लेता है।

कम्बलों तथा अन्य गर्म कपड़ों के लिए ऊंट के बाल बहुत अच्छे माने जाते हैं। उसकी

दुम के लम्बे बालों से रज्जु और रस्सियां बना ली जाती हैं जो बहुत मजबूत और पायेदार होती हैं। ऊंट की खाल काठी के लिए इस्तेमाल की जाती है। अनेक देशों में इसका मांस खाया जाता है। इसका दूध उत्तम पौष्टिक पेय माना जाता है और मनुष्य भी इसे पीते हैं।

1982 की पशुधन गणना के अनुसार भारत में 10 लाख 80 हजार ऊंट थे। यह संख्या 1977 की संख्या से 0.94 प्रतिशत अधिक है। राज्यवार राजस्थान में 7 लाख 56 हजार, हरियाणा में 1 लाख 21 हजार, गुजरात में 7 लाख 50 हजार, मध्यप्रदेश में 16 हजार, पंजाब में 64 हजार और उत्तरप्रदेश में 40 हजार ऊंट थे।

ऊंटों की किस्में

ऊंट की दो जातियां होती हैं। **बैक्टीरियन ऊंट** का मूल स्थान मध्य एशिया है। इसके दो कूबड़ होते हैं। **अरबी** अथवा **ड्रोमडरी** ऊंट के केवल एक कूबड़ ही होता है। भारत में तो केवल एक कूबड़ वाले अरबी जाति के ऊंट ही मिलते हैं। सामान्यत: अरबी नस्ल के ऊंट की बनावट कुछ हल्की होती है। इसके शरीर का पिछला भाग अपेक्षतया अधिक लम्बा होता है। बैक्टीरियन ऊंट की तुलना में इसकी चमड़ी मुलायम और पतली होती है।

ऊंट की भारतीय नस्लें

भारत में ऊंट को, पहाड़ी अथवा मैदानी क्षेत्र में पले होने के अनुसार, पहाड़ी अथवा मैदानी ऊंट कहा जाता है। मैदानी ऊंटों में ही नदीय और रेगिस्तानी किस्में हैं। मैदानी ऊंट की तुलना में पहाड़ी ऊंट का शरीर अधिक ठुका होता है। इसकी टांगें छोटी, पांव कुछ गोल और मांसपेशियां खूब विकसित होती हैं।

पहाड़ी और नदीय ऊंट भारवहन के काम और रेगिस्तानी ऊंट सवारी के काम आते हैं।

असबाब ढोने वाले ऊंट के कूबड़ खूब विकसित, गर्दन मोटी, सिर बड़ा, छाती चौड़ी, टांगें मजबूत और पैरों की गद्दियां अच्छी होती हैं। सवारी के उपयुक्त ऊंट अपेक्षतया हल्का, अधिक चुस्त, पतले अंगों वाला होता है। टांगों के ऊपर इसकी ऊंचाई अधिक होती है। इसका सिर छोटा, गर्दन पतली होती है। आंखें, कान और पांव छोटे तथा चमड़ी पतली होती है।

रेगिस्तानी ऊंट राजस्थान में बीकानेर और जैसलमेर के शुष्क रेतीले प्रदेश में पाये जाते हैं।

घोड़ों की थारोब्रेड नस्ल की तरह ही ऊंटों में रेगिस्तानी नस्ल का ऊंट अधिक महत्वपूर्ण होता है। यह ऊंट नदीय ऊंट की तुलना में कहीं अधिक बच्चे पैदा करता है। यह अपने धैर्य के लिए प्रसिद्ध है। अच्छा रेगिस्तानी ऊंट लगातार कई कई दिन तक काफी काफी दूरी (48 किलोमीटर प्रतिदिन) बड़ी आसानी से तय करता रह सकता है। इसकी औसत चाल 9 से 10 किलोमीटर प्रति घण्टा है।

रेगिस्तानी ऊंट का वजन कम होता है। इसका सिर व थुथनी छोटी, गर्दन पतली, कान छोटे और एक दूसरे के निकट होते हैं। नाक हल्की सी ऊपर की ओर उठी होती है। माथे पर आंखों के ऊपर साफ दिखने वाली एक खोखली सी जगह होती है। इसकी छाती चौड़ी व मांसपेशियां सुगठित होती हैं। पांव अपेक्षतया छोटे होते हैं। दुम लम्बी और बढ़िया होती है।

ये ऊंट बड़े चुस्त और गरिमामय लगते हैं।

नदीय ऊंट: अधिकांशत: उत्तरप्रदेश और पंजाब के पश्चिमी भागों में पाया जाता है।

नदीय ऊंट भार ढोने के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। इनका शरीर बड़ा होता है, यद्यपि इनकी चाल कुछ धीमी होती है। ये बड़ी आसानी से 3 से 4 क्विण्टल वजन खींच सकते हैं। इन ऊंटों की औसत चाल प्राय: 4 किलोमीटर प्रति घण्टा है। ये एक बार में 19 से 22 किलोमीटर तक चल सकते हैं।

नदीय ऊंट का सिर मोटा व भद्दा होता है और नाक रोमन बनावट की। इसकी गर्दन और टांगें लम्बी तथा पांव अण्डाकार होते हैं। इसके पांव प्राय: नरम होते हैं। इसका पिछला धड़ अपेक्षतया कम विकसित होता है।

पहाड़ी ऊंट मुख्यत: उत्तर पंजाब के पथरीले पर्वतीय क्षेत्रों में पाया जाता है। यह भार ढोने के लिए खूब उपयुक्त है। इसका कद अपेक्षतया छोटा होता है। यह पांव जमाकर रखता है। पहाड़ी भूभाग के लिए यह बहुत ही उपयुक्त होता है। .

पहाड़ी ऊंट ठुके शरीर व विकसित मांसपेशियों वाला पशु है। इसकी गर्दन छोटी और छाती चौड़ी होती है। इसके पुट्ठे खूब विकसित होते हैं। इसकी टांगें छोटी तथा पांव गोल और कठोर होते हैं।

पंजाब, उत्तरप्रदेश और इनके आसपास के क्षेत्रों के अधिकतर ऊंट तो राजस्थान के बीकानेर और जैसलमेर जिलों और गुजरात राज्य के काठियावाड़ और अहमदाबाद जिलों के होते हैं। जिन क्षेत्रों में ऊंट पाये जाते हैं, उनमें से प्रत्येक की अपनी एक विशेष नस्ल है: यथा **बागड़ी, अलवरी, काछी, जैसलमेरी** और **बीकानेरी**।

ऊंटों का पालन व प्रजनन

ऊंटों के प्रजनन की एक निश्चित ऋतु है। वर्ष के अधिकांश समय ऊंट की मैथुन की इच्छा दबी रहती है। सर्दियों में नवम्बर से लेकर फरवरी-मार्च तक ही ऊंट मदकाल में, जिसे सामान्यत: 'मस्ती' का समय कहा जाता है, आता है। मद में रहने की वास्तविक अवधि तो मुख्य रूप से पशु के स्वास्थ्य पर निर्भर करती है।

जब अनेक ऊंट इकट्ठे रखे जाते हैं तो इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली एक या दो ऊंटों में ही मस्ती उल्लेखनीय मात्रा में प्रकट होती है। अन्य ऊंट अपने से अधिक बलवान साथियों के भय के कारण मस्ती का कोई विशेष चिह्न प्रकट नहीं होने देते। हां, झुण्ड का कोई अन्य ऊंट यदि अपनी मस्ती दबाने में सफल नहीं होता तो इसमें और झुण्ड के नेता में लड़ाई छिड़ जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि पराजित ऊंट को अपनी मस्ती दबानी पड़ती है।

मस्ती में ऊंट निरन्तर अपने दांत पीसता रहता है और मुख से फेन निकालता रहता है। मुंह से अपने आप हवा निगलता है और खूब जोर से बाहर निकालता है। मस्ती उतरने के समय नरम तालू से जुड़ी श्लेष्मक झिल्ली का कुछ भाग मुख के एक तरफ गुब्बारे की तरह फूलकर बाहर निकल आता है। वह गुलाबी ब्लैडर की तरह होता है तथा कुछ सेकण्ड के पश्चात् पीछे की ओर खिंच जाता है। पराग ग्रन्थियों से स्त्राव बढ़ जाता है। गर्दन के

नीचे लाली लिये काला दुर्गन्धयुक्त द्रव बहता प्राय: देखा जाता है। ऊंट प्राय: पिछली टांगें चौड़ी करके खड़ा होता है। यह दुम ऊपर नीचे फड़फड़ाता है और अपना वीर्य तक बाहर फेंक देता है।

मदकाल ज्यों ज्यों बीतता है मस्ती में आये ऊंट का स्वास्थ्य गिरने लगता है। इसका कारण यह होता है कि इसकी भूख कुछ कम हो जाती है। हवा को निगलने और जोर से निकालते रहने के कारण इसे विश्राम कम मिलता है। अधिक मस्ती में आये ऊंट का इलाज होता है इस पर अधिक वजन लादना और इससे अधिक श्रम करवाना। मस्ती में आये ऊंट पर नियन्त्रण रखना प्राय: कठिन हो जाता है। इसकी देखभाल बड़ी सावधानी से की जानी चाहिए। मदकाल में ऊंट को ऊंटनियों से अलग रखा जाना चाहिए।

ऊंटनी में लैंगिकता के चिह्न तो बहुत पहले, दो वर्ष की उम्र में ही, दीखने लगते हैं। परन्तु इसका मेल छ: वर्ष की उम्र में ही करवाया जाता है। ऊंट आठ वर्ष की उम्र में पूरी तरह से परिपक्व और अपने पूरे यौवन पर होता है।

वर्ष भर में 30 से 50 ऊंटनियों से एक ऊंट का मेल करवाया जा सकता है। परन्तु यदि इसे रखा और खिलाया अच्छी तरह जाये तो 70 ऊंटनियों तक से उसका मेल करवाया जा सकता है।

लैंगिक दृष्टि से ऊंटनी चार वर्ष की उम्र से ही परिपक्व हो जाती है। 20 वर्ष की आयु तक यह प्रजनन करती रह सकती है। ऊंटनी दो वर्ष में एक बार प्रजनन करती है। मरुस्थल की विषम परिस्थितियों में कठिनाई सह सकने में समर्थ बनाने के लिए आवश्यक विश्राम इस तरह मिल जाता है।

ऊंटनी के गर्भधारण की अवधि जुगाली करने वाले अन्य किसी पालतू पशु की तुलना में अधिक है। यह अवधि 375 से 392 दिन तक हो सकती है। औसत अवधि 389 दिन है। ऊंटनी एक समय में एक बच्चा देती है।

ऊंटनी में मदकाल के सर्वाधिक विशिष्ट चिह्न हैं: बेचैनी, ऊंट की खोज में भटकना, बार बार आवाज करना, प्रजनन छिद्र का फूलना और उससे श्लेष्मक पदार्थ निकलना। मदकाल की अवधि 3 से 4 दिन होती है।

ऊंट जुगाली करने वाले अधिकतर जानवरों से इस बात में भिन्न होता है कि मैथुन के समय ऊंटनी आगे की ओर आधी झुकी स्थिति में हो जाती है। ऊंट कुत्ते की तरह पलथी मारकर लचकीले पिछले अंगों के सहारे जमीन पर बैठ जाता है। अगली टांगें दोनों तरफ आगे बढ़ाकर ऊंटनी को पकड़ लेता है। ऊंट और ऊंटनी दोनों के मुख की दिशा एक ही होती है। इस क्रिया में लगभग 15 मिनट लगते हैं। इस समय ऊंट गरारे करता है और फेन सा निकालता है। ऊंटनी आवाज करती है। ऊंटों के झुण्ड के अन्य सदस्य इनके चारों तरफ इकट्ठे होकर इन्हें औरों की नजर से छिपा लेते हैं।

ऊंटनी में गर्भधारण करने का सबसे अधिक स्वाभाविक चिह्न तो यह है कि जब भी कोई ऊंट उसके पास आता है अथवा कोई मनुष्य उसे पकड़ता है, यह दुम ऊपर की तरफ खड़ी करने लगती है। मेल के 15 दिन पश्चात् यह चिह्न दिखाई दे तो गर्भ धारण करने का निश्चित

संकेत होता है। गर्भधारण कर लेने के लगभग 6 मास बाद ऊंटनी का पेट फैल जाता है।

प्रसव का समय निकट आने का मुख्य संकेत यह है कि अयन का आकार बढ़ जाता है और प्रजनन छिद्र के चारों तरफ सूजन हो जाती है। अगले और पिछले, दोनों, पुट्ठों में बस्ती या द्रोणी तरफ की मांसपेशियां ढलक सी जाती हैं। दुम की जड़ के चारों तरफ खांचा सा बन जाता है।

ऊंटनी प्राय: बैठे बैठे ही बच्चा जनती है। प्रसव के समय उसे खुला नहीं छोड़ा जाना चाहिए। आशंका यह रहती है कि यह डरकर इधर उधर भागने न लगे और बच्चे के जीवन को खतरे में न डाल दे।

जन्म के समय ऊंट के बच्चे के अगले पांव पहले निकलते हैं। सिर इसका अगली टांगों के ऊपर पड़ा होता है। बच्चा स्वाभाविक रूप से ही होते रहने देना चाहिए। जहां तक हो सके अनावश्यक हस्तक्षेप टाला ही जाना चाहिए। गर्भ से निकलने वाला मल सामान्यत: बच्चे के साथ ही अथवा आधे घण्टे बाद निकल आता है।

पैदा होने के बाद बच्चे को पोंछकर साफ कर देना चाहिए और उसे ऊंटनी के थनों की ओर बढ़ा देना चाहिए। अन्य पशुओं की तरह ऊंटनी नवजात बच्चे को जीभ से कभी नहीं चाटती, यद्यपि बच्चे की देखभाल और सुरक्षा यह अच्छी तरह से ही करती है।

नवजात ऊंट के लिए पहले तीन सप्ताह सबसे नाजुक अवधि है। इस बात की सावधानी बरती जानी चाहिए कि नया बच्चा दूध अधिक मात्रा में न ले ले। ऊंट का बच्चा बहुत जल्दी, चार से छ: सप्ताह की उम्र में ही, चरने लगता है। पन्द्रह मास की उम्र के लगभग उसे मां का दूध छुड़वा दिया जाता है।

ऊंटनी को दिन में दो बार दुहा जाता है। यह प्राय: 10 से 18 मास तक दूध देती रहती है। दूध देते रहने की औसत अवधि 15 मास होती है। बच्चे के लिए आवश्यक दूध के अतिरिक्त यह प्रतिदिन 9 लिटर तक दूध दे सकती है। दूध देने की पूरी अवधि में 2,750 लिटर अथवा इससे भी अधिक दूध दे सकती है। ऊंटनी को अच्छी तरह खिलाया जाये और देखभाल की जाये तो वह मरुभूमियों में दूध का अच्छा स्त्रोत सिद्ध हो सकती है।

ऊंट के दूध का स्वाद अच्छा होता है। इसकी संरचना गाय के दूध से बहुत मिलती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि इसमें शर्करा कुछ अधिक होती है। ऊंटनी के दूध से मक्खन कठिनता से ही बनाया जा सकता है। इसका दूध बच्चों को पिलाने के लिए प्राय: इस्तेमाल किया जाता है। यह दूध बहुत ही जीवनदायी माना जाता है। ऊंट के दूध की औसत संरचना इस प्रकार है : 86.57 प्रतिशत जल, 4.00 प्रतिशत प्रोटीन, 3.07 प्रतिशत वसा, 5.59 प्रतिशत शर्करा और 0 77 प्रतिशत खनिज।

ऊंटों की खुराक

ऊंट वनस्पतियों पर रहने वाला पशु है। वृक्षों व झाड़ियों के पत्तों और टहनियों को खाकर जीवित रहता है। यह लम्बी, ताजी और गूदेदार घास पसन्द करता है।

ऊंट काम न कर रहा हो तो घास चरकर और झाड़ियों व वनस्पतियों की जड़ें खाकर भी खूब अच्छी तरह रह सकता है। परन्तु विशाल शरीर की आवश्यकता पूरी करने के लिए चरने और वनस्पतियों तथा झाड़ियों में मुंह मारने के लिए इसे प्रतिदिन कम से कम 6 से 8 घण्टे का समय चाहिए। ऊंट के हृष्ट पुष्ट होने का पता इसके कूबड़ के आकार से मिलता है। जब पर्याप्त भोजन उपलब्ध होता है तो इसके कूबड़ का आकार बढ़ जाता है।

ऊंट को जब चरने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता अथवा पर्याप्त चारा उपलब्ध नहीं होता तो इसे बांधने के स्थान पर और खुराक दी जानी चाहिए। पूरक राशन हरा अथवा सूखा चारा हो सकता है।

निरन्तर सूखा चारा देते रहने से ऊंटों की पाचन शक्ति बिगड़ने की आशंका रहती है। इससे चर्म रोगों के होने का भी खतरा रहता है। सिद्धान्ततः सूखा चारा पूरक भोजन के रूप में दिया जाना चाहिए। इसे चराई के स्थान का भोजन नहीं समझा जाना चाहिए। चारा यदि काफी रसदार न हो तो कुट्टी के रूप में दिया जाना चाहिए। इससे अपव्यय कम होता है। सूखे चारे से बदलकर जब इसे हरा चारा दिया जा रहा हो तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह अधिक मात्रा में न खा ले। इससे पेट में वायु अधिक हो जाने से इसका पेट फूल जाने की आशंका रहती है। यह बीमारी घातक भी सिद्ध हो सकती है। भोजन में परिवर्तन धीरे धीरे किया जाना चाहिए। ऊंटों का स्वास्थ्य खराब होने का एक आम कारण तो इनके भोजन में कर दिये जाने वाले आकस्मिक परिवर्तन हैं। जब कभी नये प्रकार का चारा दिया जाना शुरू किया जा रहा हो तो अच्छा यही रहता है कि यह उस चारे से मिलाकर दिया जाये जिसका ऊंट अभ्यस्त है। फिर धीरे धीरे इसकी मात्रा बढ़ायी जा सकती है। ऊंटों को प्रतिदिन पागुर या जुगाली के लिए पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए।

ऊंट को हरे रूप में दिये जाने वाले खाद्य हैं: मोठ, मूंग, ग्वार, शफताल, सेंजी, सरसों, तारामीरा, हरी फली, मटर और फलीदार पौधे। ऊंट को खिलाये जाने वाले मुख्य सूखे चारे हैं : गेहूं का भूसा, जौ के तिनके, सूखी फलीदार फसलें तथा चना, मोठ, मूंग, ग्वार और जौ, बाजरा के कटे हुए तने। ऊंट रेगिस्तान के जिन पौधों को बड़े शौक से खाता है वे हैं: बबूल, पीलू, फरवान, करीर और झण्ड। ऊंट फूलाही, खैर, बेर, शीशम, नीम, शहतूत, बड़, पीपल और आम के पत्तों और कोंपलों को खाने के विशेष शौकीन होते हैं।

ऊंट से जब अधिक काम लिया जा रहा हो और इसे पर्याप्त चारा उपलब्ध न हो तो आवश्यक हो जाता है कि इसे अनाज खिलाया जाये। चना, जौ, जई, फलियां, मक्का, कपास के बीज और चोकर ऊंटों को प्रायः दिये जाते हैं। चने को ऊंट की सर्वोत्तम खुराक माना जाता है। अनाज पिसे रूप में ही दिया जाना चाहिए, परन्तु यदि ऐसा करना सम्भव न हो तो खिलाये जाने से पहले कुछ समय तक उसे जल में अच्छी तरह से भिगो लेना चाहिए। 1 किलोग्राम पिसा हुआ चना, 1 किलोग्राम पिसी जौ, 9 से 18 किलोग्राम हरा चारा, 7 किलोग्राम भूसा और 28 से 56 ग्राम नमक प्रतिदिन मध्यम दर्जे का काम करने वाले और नांद में खिलाये जाने वाले ऊंट के लिए पर्याप्त समझा जाता है।

काटने की आदत के कारण एक बर्तन में एक से अधिक ऊंटों को नहीं खिलाया जाना

चाहिए। ऐसा करने से खुराक बेकार भी बहुत जाती है। निर्बल ऊंट उचित भाग प्राप्त नहीं कर पाता। चारा बहुत जल्दी खा लिया जाता है। इस कारण ऊंटों के पाचन तन्त्र में खराबी पैदा हो जाती है।

अच्छा तो यही रहता है कि अनाज सन्ध्या के समय दिया जाये। खाली पेट अथवा हाल ही में खूब पानी पी चुके ऊंट को अनाज नहीं दिया जाना चाहिए।

ऊंट को स्वस्थ रखने के लिए इसे नमक देना आवश्यक है। नमक दैनिक अनाज के राशन में मिलाकर अथवा अलग दिया जा सकता है। यदि नमक अलग दिया जाना हो तो प्रातःकाल सबसे पहले यही खिलाया जाना चाहिए। यदि इसे अनाज के साथ दिया जाना हो तो यह शाम को खिलाया जाना चाहिए।

कठोर श्रम के बाद, विशेष रूप से शीतकाल में, ऊंटों को कभी कभी विशेष मिश्रण और मसाले दिये जाने चाहिएं। तीन भाग अजवाइन, दो भाग काली जई, दो भाग काला नमक, एक भाग मेथी, एक भाग कारु का मिश्रण बनाकर महीने में एक या दो बार ढाई ढाई सौ ग्राम की मात्रा में दिया जाना चाहिए। कभी कभी 32 से 50 ग्राम फिटकरी, 600 से 700 ग्राम गुड़ के साथ मिलाकर गोली के रूप में ऊंट को दी जाती है।

ऊंटों को जल पिलाना

रेगिस्तान की कठोर गर्मी में ऊंट शरीर के वजन के 30 प्रतिशत वजन के बराबर जल की हानि सह सकता है। इन्हीं परिस्थितियों में अन्य जानवरों का संचरण तन्त्र जवाब दे जाएगा। शरीर के वजन के केवल 12 प्रतिशत वजन के बराबर ही जल कम हो जाने पर और जानवरों की मृत्यु हो जाती है। लम्बी अवधि तक जल के बिना रह सकने की शक्ति ऊंट में इस कारण है कि इसकी रुधिर प्लाविका में अधिक पानी रह सकता है। जुगाली करने वाले जानवरों में ऊंट की ही रुधिर प्लाविका में सबसे अधिक जल रहता है। पेशाब के द्वारा भी ऊंटों से अपेक्षतया बहुत कम मात्रा में जल निकलता है।

इन सभी कारणों से अन्य जानवरों की तुलना में ऊंट जल के बिना कहीं अधिक लम्बी अवधि तक रह सकता है। एक ऊंट को परीक्षण के तौर पर बिना जल दिये सूखे चारे पर गर्मियों में 17 दिन और सर्दियों में 30 दिन तक रखा गया था। यह पाया गया कि यह बिलकुल स्वस्थ रहा। परन्तु सामान्य परिस्थितियों में ऊंट को प्रतिदिन एक या दो बार जल पिलाया जाना चाहिए। रेगिस्तानी क्षेत्रों में ऊंट को आमतौर पर एक दिन छोड़कर जल पिलाया जाता है।

ऊंटों में बहुत अधिक पानी पीने की क्षमता है। ये एक बार में 135 लिटर तक जल पी सकते हैं। ज्यों ही ये पानी पीते हैं, इनकी रुधिर धारा में लाल कण अपने सामान्य आकार से 240 प्रतिशत बड़े हो जाते हैं। अन्य जानवरों में यदि ये लाल कण 130 प्रतिशत से अधिक बढ़ जायें तो वे फट जाएंगे। इससे उनकी मृत्यु तक हो सकती है। मनुष्य के लिए खतरे का स्तर 165 प्रतिशत तक है।

ऊंट के लिए आवश्यक जल की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि इसे चारा किस

प्रकार का दिया जा रहा है, यह किस जलवायु में रह रहा है तथा किन परिस्थितियों में काम कर रहा है। यदि ऊंट को प्रतिदिन जल पिलाया जाता हो तो प्राय: 18 से 36 लिटर जल की आवश्यकता होती है। परन्तु यदि लम्बे समय तक बिना जल के रहा हो तो उसके बाद यह अधिक जल पी सकता है।

ऊंट को दिया जाने वाला जल ताजा और साफ होना चाहिए। ऊंट बहती धाराओं की अपेक्षा स्थिर जल अथवा धीरे बहते जल को पीना अधिक पसन्द करते हैं। जल भोजन से पहले और भार उतारने के बाद पिलाया जाना चाहिए। ऊंट जल मजा लेकर पीते हैं। ये एकदम ही अपनी प्यास शान्त नहीं कर लेते। बहुत ही प्यासा ऊंट कभी कभी तेजी से खूब जल पी लेता है तो इसका पेट फूल जाता है।

ऊंटों की आवास व्यवस्था

अन्य पालतू जानवरों की तरह ऊंटों को भी धूप, वर्षा और हवा से बचाये रखने की आवश्यकता रहती है। हां, गर्मियों में ऊंटों को बाहर खुले में रखा जा सकता है। इधर उधर आसानी से ले जाये जा सकने वाले खिलाने के बर्तन को यदि सम्भव हो तो अच्छे छायादार वृक्ष के नीचे रख देना चाहिए। ऊंट के विश्राम के लिए रेत का बिस्तर लगा देना चाहिए। रेत बिछाकर सन्ध्या के समय उस पर जल का थोड़ा छिड़काव कर देने से ऊंट को सुविधा रहती है।

सामान्यत: ऊंट को अच्छे हवादार शैड में रखा जाना चाहिए। परन्तु ये शैड साधारण होने चाहिएं, अधिक महंगे नहीं। शैड ऐसे स्थान पर बनाया जाना चाहिए जिसका स्तर आसपास की जमीन से ऊंचा हो ताकि वर्षा का जल प्राकृतिक रूप से वहां से बहकर निकल जाये। ऊंट के शैड की प्राय: 3 दीवारें बनायी जाती हैं। एक तरफ से यह खुला भी होता है। खुला भाग उधर नहीं होना चाहिए जिस ओर से हवाएं आ रही हों। छत टाइलों की अथवा तिनकों की बनायी जा सकती है। दीवारें मिट्टी की हो सकती हैं। फर्श कच्चा रखा जा सकता है, परन्तु वह खूब कठोर होना चाहिए। उसके नीचे कठोर वस्तुएं डाल देनी चाहिएं ताकि वह यथासम्भव छिद्ररहित हो जाये। फर्श की ढलान कुछ कुछ पीछे की तरफ होनी चाहिए। उसके सिरे पर एक नाली भी होनी चाहिए। चारे की नांद पक्की ईंटों की ओर जमीन से लगभग 8 सेण्टीमीटर ऊंचाई पर होनी चाहिए।

भारवाही ऊंटों की प्रबन्ध व्यवस्था

ऊंट अपेक्षतया धीमी गति से बड़ा होता है। आठ वर्ष का ऊंट परिपक्वता की उसी स्थिति में होता है जिसमें कि पांच वर्ष का घोड़ा। पांच वर्ष से कम आयु के ऊंट से काम लेना अच्छा नहीं रहता। छ: वर्ष की आयु तक इसे कठोर और थका देने वाले काम में डाला ही नहीं जाना चाहिए।

भारवाही ऊंट को दो वर्ष की आयु के बाद किसी भी समय प्रशिक्षित किया जा सकता

है। जितनी जल्दी ऊंट को प्रशिक्षित करना शुरू किया जाये उतनी ही आसानी से इसे सधाया जा सकता है। आरम्भ में तो कम उम्र के ऊंट को बड़ी उम्र के भारवाही ऊंटों के साथ बिना भार लादे ही यात्रा करने देना चाहिए ताकि यह रास्ते और आदेशों के अनुसार काम का अभ्यस्त हो जाये। खूंटी के लिए नथुने को बेध देना चाहिए। इसके कम से कम एक महीना बाद ही ऊंट का प्रशिक्षण शुरू किया जाना चाहिए।

कम उम्र के ऊंट को चलने की दिशा में सीधी रेखा में रहना सिखाया जाना चाहिए। इसके लिए पहले तो इसकी गर्दन के चारों तरफ रस्सी बांधी जाती है। इस रस्सी को शान्त स्वभाव वाले किसी शक्तिशाली ऊंट की गर्दन से बांधा जाता है। तब कम उम्र के ऊंट को नाक से बंधी रस्सी के पीछे पीछे अपने आप चलने और बाद में उसी पंक्ति के अन्य ऊंट की दुम से बांधकर उसके पीछे चलने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। ऊंट प्राय: नथुनों से रस्सी में बंधकर एक पंक्ति में हो काम करते हैं।

ऊंट चार क्विंटल तक का भार उठा सकता है। भार की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि यह किस नस्ल का है, इसके शरीर का आकार क्या है और कितनी दूरी इसे पार करनी है। सेना में ऊंट पर लादने का अधिकतम वजन 1.8 क्विंटल ही है। ऊंटनी इससे कम भार खींचती है। जब कभी अधिक तेजी के साथ यात्रा करनी हो तो इससे कम वजन लादा जाना चाहिए।

एक दिन में तय की जाने वाली दूरी सड़क, चलने की गति और ऊंट को दी जाने वाली खुराक पर निर्भर करती है। भार उठाये ऊंट से प्रतिदिन 8 घण्टे से अधिक काम नहीं करवाया जाना चाहिए और न ही कभी एक साथ 6 घण्टे से अधिक। एक दिन में चलने की औसत दूरी 19 से 24 किलोमीटर है। अच्छी तरह से रखा गया ऊंट आसानी से एक दिन में 25 किलोमीटर चल सकता है। यात्रा कर रहे ऊंटों को सप्ताह में एक दिन विश्राम करवाया जाना चाहिए।

लदे हुए भारवाही ऊंटों के लिए अच्छी सड़क पर 3 से 5 किलोमीटर प्रति घण्टा चलना सुविधाजनक रहता है। एक ऊंट अथवा इकट्ठे तीन ऊंट काफिले की अपेक्षा अधिक तेज चलते हैं। ऊंटों की यात्रा के लिए सर्वश्रेष्ठ समय रात अथवा सुबह के पहले घण्टे हैं। रात को यात्रा करना अधिक अच्छा रहता है। इससे धूप से बचाव रहता है। चारा खाने में भी उसे आसानी होती है। इससे राशन कम खर्च होता है और चारा साथ लेने की आवश्यकता भी कम ही रहती है। परन्तु रात में यात्रा तभी की जानी चाहिए जब चांदनी काफी हो और चारा पर्याप्त मात्रा में चरने के लिए मिलता जाये।

12 से 16 किलोमीटर चल लेने के पश्चात् कुछ मिनट के लिए रुक जाना चाहिए ताकि ऊंट को विश्राम मिल जाये और वह पेशाब कर सके। ऊंट को पेशाब करने में काफी समय लगता है।

लदे ऊंट को आवश्यकता से अधिक कभी खड़ा नहीं रखा जाना चाहिए। ठहरने के समय इसे बैठने देना अच्छा रहता है। ऊंट ज्यों ही लक्ष्य स्थान पर पहुंचे, भार उतार लिया जाना चाहिए। पहुंचने के तुरन्त बाद ही काठी अथवा पालन को नहीं हटाना चाहिए क्योंकि पीठ

से एकदम दाब हटा लेने से चमड़ी सिकुड़ सकती है जिससे पीठ पर क्षत हो सकते हैं। ठण्डे मौसम में यदि ऊंट के ठण्डे हो लेने से पहले ही काठी को हटा लिया जाता है तो उसे सर्दी लगने की आशंका रहती है। इससे निमोनिया अथवा फालिज हो सकता है।

जब तैरकर गहरी नदियां पार की जानी हों तो सबसे अच्छा यही रहता है कि पार करवाने से पहले विश्राम करवाकर ऊंट को ठण्डा कर लिया जाये।

भारवाही ऊंट को ठीक तरह से लादने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। भार बराबर बराबर बांटकर कूबड़ के दोनों तरफ सन्तुलित किया जाना चाहिए। काठी अथवा पालन को बराबरी से ठीक तरह जमाया जाना चाहिए।

सवारी के काम आने वाले ऊंटों की प्रबन्ध व्यवस्था

सवारी के लिए ऊंट तैयार करने की सबसे अच्छी उम्र तीन वर्ष है। चाल का अभ्यास इससे पहले कम उम्र में करवाया जाना चाहिए। तथापि छ: वर्ष की उम्र से पहले ऊंट को किसी भी नियमित काम में नहीं डाला जाना चाहिए। ऊंटनियां सवारी के लिए बहुत उपयुक्त रहती हैं।

सवारी के काम आने वाले ऊंट को पहले घुटनों के बल झुकने और काठी डलवाने का अभ्यस्त बनाया जाता है। प्रारम्भ में तो बैठे ऊंट पर ही सवारी की जाती है। बाद में इस पर सवार हो इसे इधर उधर ले जाया जाता है और नकेलों द्वारा दिये गये आदेशों को समझना और पालन करना सिखाया जाता है। सवारी करते समय ऊंट की गर्दन पर कभी भी आघात नहीं किया जाना चाहिए। ऊंट को हल्का सा छूने का उपयुक्त स्थान तो है सवारी करने वाले व्यक्ति की दायीं टांग के कुछ पीछे वाला स्थान। सवारी के काम आने वाले ऊंट की दुम एक तरफ कर बांध दी जानी चाहिए। दुम बांधने वाली पतली रस्सी काठी से बंधी होनी चाहिए।

सवारी वाला ऊंट धीमी चाल से तो प्राय: चल ही नहीं पाता। सवारी का काम देने वाला अच्छा ऊंट एक दिन में काफी दूरी—60 से 80 किलोमीटर—पार कर सकता है। यह ऐसा निरन्तर 10 से 15 दिन तक करता रह सकता है। इसके बाद इसे पर्याप्त विश्राम दिया जाना चाहिए। ऐसा सवारी-ऊंट, जिसे अच्छी तरह से खिलाया पिलाया जाता रहा हो, एक दिन में औसतन 40 किलोमीटर दूरी बिना थके पार कर सकता है। सवारी के अच्छे ऊंट की औसत चाल 8 से 11 किलोमीटर प्रति घण्टा होती है।

वाहक ऊंटों की प्रबन्ध व्यवस्था

भारत में ऊंट को भारवहन के अलग अलग तरह के कामों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। हल और रहट खींचने के लिए ऊंट को विशेष उपयोगी माना जाता है क्योंकि एक ही ऊंट कई जोड़ी बैलों के बराबर काम कर सकता है। भारवहन के काम के अनुरूप ही ऊंटों के लिए अलग अलग प्रकार की काठियां कसी जाती हैं। सामान्य काठी से तो ऊंट लगभग 3 क्विंटल तक वजन खींच पाता है। परन्तु यदि इसे ठीक तरीके से बनी गाड़ी में जोत दिया जाये तो यह बड़ी आसानी से 8 क्विंटल तक वजन खींच सकता है।

ऊंट को भारवहन के काम में डालने के लिए सबसे अच्छी उम्र 5 वर्ष है। हल चलाने अथवा रहट चलाने के लिए यदि ऊंट का प्रयोग किया जा रहा हो तो इससे प्रतिदिन छ: घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जाना चाहिए। चार घण्टे प्रात:काल और दो घण्टे अपराह्न में काम लेना ठीक रहता है।

बालों की मौसमी कटाई

ऐसे क्षेत्रों में जहां ऊंटों पर लम्बा आवरण चढ़ जाता है, इनके बाल विभिन्न प्रकार के कामों के लिए मूल्यवान समझे जाते हैं। सबसे बढ़िया किस्म के बाल तो कम उम्र के ऊंट अथवा जंगली ऊंट से ही मिलते हैं। ऊंटों से प्राय: वसन्त ऋतु में बाल उतारे जाते हैं। वसन्त में ऊंटों से एक से डेढ़ किलोग्राम तक बाल उतरते हैं, परन्तु अपेक्षतया ठण्डे क्षेत्रों में उतरे बालों का वजन प्रति ऊंट 5 किलोग्राम तक हो सकता है।

बाल हाथ से चलायी जाने वाली मशीन से उतारे जा सकते हैं। बाल यथासम्भव चमड़ी के निकट से उतारे जाने चाहिएं। यह सावधानी बरती जानी चाहिए कि ऊंट को घाव न लगे। काम में आने वाले ऊंटों पर जहां काठी डाली जाती है, वहां से बाल नहीं उतारे जाने चाहिएं। इससे ऊंट कष्टदायी सूजन से बचा रहता है। कम उम्र के ऊंटों से वर्षा शुरू होने से पहले बाल नहीं उतारे जाने चाहिएं। इस तरह लू से इनका बचाव हो जाता है। यदि रातें ठण्डी हों तो बाल उतारने के बाद इन्हें रात को कम्बल उढ़ा दिए जाने चाहिएं।

त्वचा को परजीवियों (पैरासाइट्स) के आक्रमण से बचाने के लिए सावधानी के तौर पर ऊंट के सारे शरीर पर बाल उतारने के बाद तारामीरा अथवा सरसों का तेल लगा दिया जाता है। सर्दियों में यदि बाल अधिक हों तो ऐसा करना बहुत अच्छा रहता है। तेल लगा देने के बाद कुछ समय तक ऊंट को छाया में रखा जाना चाहिए क्योंकि धूप में रखने से फफोले हो जाने की आशंका रहती है। तेल लगाने के दो दिन बाद सारे शरीर के ऊपर कीचड़ लगा दिया जाना चाहिए। तीन दिन के बाद इसे उतार लिया जाता है।

ऊंट की आयु का पता करना

ऊंट के दांतों को देखकर इसकी आयु का अनुमान लगाना घोड़े के दांतों को देखकर उसकी आयु का अनुमान लगाने की तुलना में कहीं अधिक सरल है। ऊंट में जन्म के 8 से 12 दिन पश्चात् मध्य के दो अस्थायी छेदक दांत निकल आते हैं। बारह मास की उम्र में छ: अस्थायी छेदक दांत होते हैं। ये चार वर्ष की उम्र से घिसने शुरू हो जाते हैं। अस्थायी छेदक दांत मात्र ठूंठ रह जाते हैं। 5 वर्ष की उम्र में दो स्थायी छेदक दांत होते हैं। छ: वर्ष की उम्र में चार स्थायी छेदक दांत और सात वर्ष की उम्र में छ: स्थायी छेदक दांत होते हैं। ऊंट की उम्र जब 8 वर्ष की होती है तो भेदक (केनाइन) दांत निकलते हैं।

ऊंट का मुंह जब पूरा होता है तो दस चर्वण दांत और छ: भेदक दांत ऊपरी जबड़े में तथा आठ चर्वण दांत, छ: छेदक दांत व चार भेदक दांत निचले जबड़े में होते हैं।

ऊंट जब नौ वर्ष से बड़ा हो चुकता है तो उसकी उम्र का अनुमान भेदक दांतों के घिसने और छेदक दांतों के आकार से लगाया जाता है। 11 वर्ष की उम्र के बाद तो ऊंट की उम्र का पता लगाना मुख्य रूप से अनुमान की बात ही रह जाती है। ज्यों ज्यों उम्र बढ़ती है, इसके रदनक घिसते जाते हैं, छेदक दांत छोटे होने के बजाय लम्बे, अधिक गोल और अधिक मोटे होते जाते हैं, यहां तक कि उम्र अधिक हो जाने पर, ठूंठों के सिवाय कुछ नहीं बचता।

ऊंट जब 12 वर्ष का हो जाता है तो इसकी दुम के किनारे वाले लम्बे बाल धूसर हो जाते हैं। पुराने ऊंटों की खोपड़ी अधेड़ उम्र के ऊंटों की तुलना में अधिक बड़ी होती है।

घोड़ों की तरह ऊंट भी 40 वर्ष, अथवा इससे अधिक उम्र तक जीवित रह सकते हैं। परन्तु ऊंट के काम देने की आयु भिन्न भिन्न होती है। यह इस बात पर निर्भर करती है कि इसे भोजन क्या दिया जाता है और इसकी देखभाल कैसे की जाती है। आमतौर पर ऊंट 14 वर्ष की अवधि के लगभग काम देता है। यह अवधि 6 से 20 वर्ष के भीतर कुछ भी हो सकती है।

ऊंटों में बीमारियों के लक्षण

ऊंटों में भी वे सभी बीमारियां होती हैं जो जुगाली करने वाले अन्य जानवरों को प्राय: हो जाती हैं।

ऊंटों में बीमारी के प्रमुख लक्षण हैं: तापमान बढ़ना, कंपकंपी छिड़ना, भूख कुछ कम होना अथवा बिल्कुल ही न लगना, जुगाली बन्द कर देना, ओठों का ढलक जाना, बेचैनी, अधमुंदी आंखों से जल के समान द्रव बहना। सुस्ती और नाड़ी व श्वसन गति बढ़ना। रोगी ऊंट का पेशाब गहरे रंग का हो जाता है और प्राय: कम मात्रा में आता है। ऊंटनियों में दूध की मात्रा बहुत कम हो जाती है। बीमार ऊंट सूर्य की तरफ मुख करके खड़ा होना पसन्द करता है।

ऊंट का सामान्य तापमान 36.1 दर्जे सेल्सियस (97 दर्जे फॉरनहीट) प्रात: के समय रहता है। ऊषाकाल से सूर्यास्त की अवधि के बीच यह काफी बढ़ जाता है। सूर्यास्त के समय औसत तापमान 37.9 दर्जे सेल्सियस (100.3 दर्जे फॉरनहीट) होता है। तापमान बैठे ऊंट की गुदा के अन्दर से लिया जाता है। इसके लिए आम डाक्टरी थर्मामीटर इस्तेमाल किया जाता है। स्वस्थ बड़े ऊंट में नाड़ी स्पन्दन की गति प्रात:काल 32 से लेकर 44 प्रति मिनट के बीच और सायंकाल 36 से 50 प्रति मिनट के बीच रहती है। नाड़ी स्पन्दन दुम की जड़ के पास अन्दर की ओर अथवा टखने के भीतरी तरफ 18 सेण्टीमीटर की ऊंचाई पर अनुभव किया जा सकता है।

स्वस्थ ऊंट में विश्राम के समय श्वसन की सामान्य गति 5 से 12 प्रति मिनट होती है। शीत ऋतु में यह गति कम होती है और 8 से अधिक नहीं बढ़ती।

ऊंटों के सामान्य रोग

सुर्रा : इसका अर्थ होता है 'सड़ा हुआ'। ऊंटों में सबसे अधिक पायी जाने वाली घातक बीमारी है। भारत में जिन स्थानों पर ऊंट पाये जाते हैं, वहां यह बीमारी स्थानिकमारी के रूप में पायी जाती है। रोगी ऊंटों से स्वस्थ ऊंटों को यह रोग लग जाता है। यह काटने से और रुधिर चूसने

वाली मक्खियों के द्वारा फैलता है। यह रोग प्राय: वर्षा ऋतु में होता है क्योंकि तब मक्खियों की संख्या बहुत अधिक होती है।

सुर्रा ऊंटों में बहुत उग्रता से प्रकट हो सकता है अथवा पुराने रोग का रूप ग्रहण कर सकता है। आमतौर पर यह पुराने रोग के रूप में ही अधिक देखने को मिलता है। उग्र रूप में तो यह रोग बड़ी तेजी से असर करता है। जानवर कुछ मास के भीतर ही मर जाता है। पुराने रोग के रूप में यह रोग काफी लम्बी अवधि तक बना रहता है और तीन से चार वर्ष तक रह सकता है।

सुर्रा के उग्र रूप से पीड़ित ऊंटों में भूख कम होने, दोनों तरफ के खोखले होने, गर्दन के ढलक जाने के लक्षण दिखायी देते हैं। जानवर निश्चल सा आधी मुंदी आंखें किये खड़ा रहता है। आंखों से जल निकलता रहता है। तापमान सदैव ही सामान्य से ऊपर, प्राय: 37.2 और 39.4 दर्जे सेल्सियस (99 और 103 दर्जे फॉरनहीट), के बीच में रहता है। ये तापमान प्रात:काल के समय के हैं। ऊंटनियां प्राय: सूख जाती हैं और यदि गर्भवती होती हैं तो गर्भपात हो जाता है।

पुराने रोग के रूप में इसके प्रत्यक्ष लक्षण हैं: बीच बीच में बुखार हो आना, खून की कमी और कमजोर होना। ऊंट इतना कमजोर हो जाता है कि अन्त में चमड़ी और हड्डियों के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता तथा कूबड़ लगभग लुप्त हो जाता है।

एंथ्रेक्स : ऊंटों के इस रोग से ग्रस्त होने की शंका कम ही की जाती है तथापि ये प्राय: इस रोग से आक्रान्त हो जाते हैं। एंथ्रेक्स के मुख्य लक्षण हैं: तापमान बढ़ना, जुगाली बन्द होना और श्वास का अधिक तेजी से चलना। ऊंट बैठ जाता है और खड़ा नहीं हो पाता। कुछ घण्टे के भीतर ही यह मर जाता है। यह बीमारी बहुत जल्दी असर कर जाती है। यदि जानवर आकस्मिक रूप से मरने लगें तो इसी बीमारी का सन्देह करना चाहिए।

इस बीमारी की रोकथाम के लिए रोगी ऊंटों के सम्पर्क में आने वाले ऊंटों को पृथक् कर देना चाहिए। रोगी जानवर के काम आने वाले साज सामान को तथा इस रोग से मरे ऊंट के शरीर को जला दिया जाना चाहिए। ऊंट के रहने के स्थान को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए। जिस क्षेत्र में एंथ्रेक्स के मामले नजर आये हों, वहां पर किसी ऊंट को चरने नहीं दिया जाना चाहिए।

रेबीज (हलका) : पागल कुत्तों, गीदड़ों और भेड़ियों के काटने से ऊंटों को 'रेबीज' रोग होता है। इस रोग से पीड़ित पशु द्वारा काटे जाने के बाद कुछ दिन से लेकर दो मास तक ऊंट में इस बीमारी के लक्षण दीख सकते हैं।

ऊंटों में इस बीमारी के प्रत्यक्ष लक्षण हैं: लड़ने की प्रवृत्ति, आंखों में विचित्र सी कठोर दृष्टि, नाक ऊपर रखना और मुख से लार निकलना। कई बार तो ऊंट को फालिज भी हो जाता है। रोगपीड़ित ऊंट को मार दिया जाना चाहिए और उसके शरीर को जला दिया जाना चाहिए। इस रोग से पीड़ित ऊंट मनुष्यों और जानवरों, दोनों ही के लिए भारी खतरा है।

चेचक : यह ऊंटों का अत्यधिक संक्रामक रोग है। यह रोग ऊंटों को छोटी उम्र में, प्राय: दो वर्ष से कम उम्र में ही, ग्रस्त कर लेता है।

इसके सर्वाधिक प्रत्यक्ष लक्षण हैं : ऊपरी और निचले ओठों की चमड़ी पर घाव। रोग अधिक उग्र होने पर शरीर के अन्य भागों, यथा चेहरे, ऊपरी पलक, सिर, गला, गर्दन, पिछली टांगों और पांवों, में भी घाव हो सकते हैं।

रोगी ऊंटों को अलग कर दिया जाना चाहिए और इनकी देखभाल के लिए अलग व्यक्ति रखने चाहिएं। रोगी ऊंटों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली वस्तुओं को अच्छी तरह से कृमिविहीन किया जाना चाहिए।

कुमरी : ऊंटों की एक ऐसी बीमारी है जिसमें ऊंट को बैठने में बड़ी कठिनाई होती है। इस रोग से पीड़ित ऊंट जब बैठ रहा होता है तो इसके शरीर के पिछले भाग की मांसपेशियां कांपने लगती हैं। ऊंट में कुमरी के लक्षण प्रकट होने के पश्चात् यह पुन: स्वस्थ कम ही हो पाता है।

7. हाथी

परिचय

मनुष्य द्वारा पालतू बनाये जाने वाले जानवरों में हाथी सबसे बड़ा और सबसे भव्य प्राणी है। प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राय: हाथी का उल्लेख मिलता है। भारतीय परम्पराओं और धर्मों में इसका प्रमुख स्थान है। पुराणों में **गणेश** देवता को गजानन बताया गया है।

हाथी भारत के जंगली प्रदेशों, श्रीलंका और बर्मा में पाया जाता है। हाथी मलय प्रायद्वीप, श्याम और कोचीन, चीन तथा सुमात्रा और बोर्नियो द्वीपों में भी पाये जाते हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया इस जानवर का मूल स्थान माना जाता है। हाथी अफ्रीका में भी काफी अधिक संख्या में मिलते हैं।

अफ्रीकी और भारतीय हाथी में अन्तर यह होता है कि भारतीय हाथी कद और वजन की दृष्टि से अपेक्षतया छोटा और हल्का होता है। इसके कान अपेक्षतया छोटे होते हैं। भारतीय हाथी की पीठ की पार्श्विका अवतल होती है जबकि अफ्रीकी हाथी में ऐसा नहीं होता।

भारत में हाथी मुख्यत: हिमालय की तलहटी में पश्चिम की तरफ देहरादून की घाटी तक पाये जाते हैं। गंगा और कृष्णा नदियों के बीच के विशाल वन प्रदेश में ये स्थानीय रूप से कहीं कहीं मिलते हैं। ये पश्चिमी घाट तथा मैसूर और असम के वनों में भी पाये जाते हैं।

भारत में हाथियों की संख्या का कोई ब्यौरा उपलब्ध नहीं है। मौटे तौर से अनुमान है कि इस देश के जंगलों में लगभग 7 हजार हाथी हैं जिनमें से लगभग 3 हजार दक्षिण भारत में ही हैं।

भारत में हाथियों को बहुत प्राचीन काल से ही घरेलू कामों के लिए पकड़ा जाता रहा है। प्राचीन काल में तो ये भारवाही पशु के रूप में और सेनाओं में प्रयोग किये जाते थे। इमारती लकड़ी उद्योग में तो हाथियों को अति आवश्यक समझा जाता है। वन प्रदेशों में परिवहन के लिए लकड़ी के लट्ठों को धाराओं के किनारों तक ले जाने का काम उनसे लिया जाता है। दांतों वाले हाथी अपने दांत के कारण बहुमूल्य होते हैं। जगह जगह पर प्रदर्शन करने वाले सर्कसों के पशु बाड़े में हाथी का प्रमुख स्थान होता है। कुछ वर्ष पहले तक हाथी देसी रियासतों के राजाओं का महत्वपूर्ण शाही चिह्न था। समारोहों में वे बड़े गर्व से इसका प्रदर्शन करते थे।

जंगली हाथी सदा से ही शिकारियों के लिए प्रमुख आकर्षण रहा है। भारत में शेर के शिकार के लिए भी हाथी का इस्तेमाल किया जाता है।

हाथी की सामान्य विशिष्टताएं

हाथी की समझ और स्मरण शक्ति को कभी कभी बहुत बढ़ा चढ़ाकर कहा जाता है। हाथी में ये शक्तियां कुत्ते अथवा घोड़े की इन शक्तियों की तुलना में अधिक नहीं होतीं। हाथी की चमड़ी दो सेण्टीमीटर अथवा इससे अधिक मोटी होती है परन्तु यह अत्यधिक संवेदनशील होती है। चमड़ी की मोटाई शरीर के भिन्न भिन्न भागों में अलग अलग होती है। कमर और नितम्बों

के पास यह सबसे मोटी होती है। हाथी की दृष्टि बहुत तेज होती है, परन्तु इसके इस्तेमाल में इसे प्राय: कठिनाई ही होती है। गर्दन छोटी होने के कारण यह दोनों तरफ अच्छी तरह से सिर नहीं घुमा पाता और पीछे की वस्तुओं को अच्छी तरह देख नहीं पाता। सूंघने और सुनने की अत्यधिक शक्ति के कारण दृष्टि के सीमित होने की कमी पूरी हो जाती है।

असामान्य ध्वनि अथवा कोलाहल से हाथी प्राय: चौंक जाते हैं और सूंड से बड़े जोरों से श्वास निकालने लगते हैं। तब ये एक विशेष प्रकार की ध्वनि निकालते हैं जिसे 'श्वास शृंग' कहा जाता है। हाथी जब आक्रमण करने लगता है तो भी यह ऐसी तीखी तुरही की सी आवाज निकालता है।

सामान्यत: भारतीय हथिनियों के गजदन्त नहीं होते। अनेक हाथियों के भी गजदन्त नहीं होते। इन्हें 'मखना' कहा जाता है। गजदन्त की संगति जंगली सूअर के आगे निकले दांत से नहीं वरन् छेदक दांतों की जोड़ी से बैठती है। गजदन्त ऊपरी जबड़े से निकलते हैं और हाथी के सारे जीवन काल में बढ़ते रहते हैं। ये आक्रमण में काम आने वाले भयावने शस्त्र हैं। किसी भी कोण से ये काम में लाये जा सकते हैं। ये अन्य कार्मों में भी लाये जा सकते हैं। हाथी इनसे विभिन्न प्रकार के ऐसे काम भी कर सकता है जो इनके बिना करने सम्भव न होते। सबसे अधिक लम्बा गजदन्त 2.6 मीटर का और सबसे अधिक वजनी गजदन्त 46 किलोग्राम का पाया गया है।

भारतीय हाथी में खुर की तरह के पालिश किये पांच नाखून अगले पांवों पर और चार नाखून पिछले पांवों पर होते हैं। घोड़ों की तरह हाथी की अनेक चालें नहीं होतीं। 'चलना' उसकी एकमात्र चाल है। लदा हुआ हाथी सामान्यत: अच्छी सड़क पर लगभग पांच किलोमीटर प्रति घण्टा चल सकता है। हाथी लगभग दो मीटर चौड़ी और 1.8 मीटर गहरी खाई को पार नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि हाथी बहुत अच्छे और शक्तिशाली तैराक होते हैं।

जंगली हाथियों की आयु पकड़े गये हाथियों की तुलना में कहीं अधिक होती है। कभी कभी हाथियों की आयु बहुत बढ़ा चढ़ाकर कही जाती है। सामान्यत: 25 से 35 वर्ष का हाथी युवा माना जाता है। 35 से 45 वर्ष तक का हाथी पूर्ण विकसित और 45 से 50 वर्ष तक का हाथी अधेड़ होता है। 50 से 60 वर्ष के बीच की उम्र में हाथी उतार की ओर होता है। 70 से 80 वर्ष का हाथी बहुत बूढ़ा होता है। सर्कस के हाथी की औसत उम्र 35 वर्ष होती है।

हाथी की उम्र का अनुमान कान के ऊपरी सिरे के घुमाव की मात्रा से लगाया जा सकता है। कम उम्र के हाथियों में 8 अथवा 9 वर्ष की उम्र तक यह किनारा बिल्कुल सीधा होता है। बाद में यह उलटने लगता है। जब हाथी लगभग 30 वर्ष का होता है तो यह कुण्डल 2.5 सेण्टीमीटर तक हो जाता है। 30 से 60 वर्ष के बीच की उम्र में यह मोड़ 5 सेण्टीमीटर अथवा उससे कुछ अधिक हो जाता है। दांत भी उम्र का कुछ अनुमान दे देते हैं।

समय समय पर हाथियों की अत्यधिक अनुमानित ऊंचाई का उल्लेख किया जाता है। मोटे तौर पर हाथियों की 2.7 मीटर की ऊंचाई और हथिनियों की 2.4 मीटर ऊंचाई अच्छी मानी जाती है। सर्कसों में काम आने वाले हाथी की औसत ऊंचाई 2.2 मीटर होती है।

बड़े आकार के हाथी का वजन 3,630 किलोग्राम से अधिक होता है। सर्कसों में काम

आने वाले हाथी का वजन 2,720 किलोग्राम होता है। यह 1,040 किलोग्राम से लेकर 4,170 किलोग्राम तक, कुछ भी हो सकता है।

सामान्य धारणा यह है कि हाथी का शरीर निरन्तर सक्रिय रहता है। अनेक हाथी एक साथ घण्टों खड़े रहते हैं और वजन कभी आगे तो कभी पीछे डालते रहते हैं। परन्तु सिवाय इसके, समग्र रूप से शरीर अपेक्षतया निश्चल ही रहता है। शरीर के अपेक्षतया छोटे भाग, यथा सूंड, कान और दुम, प्राय: निरन्तर सक्रिय बने रहते हैं। सूंड का सिरा तो लगभग निरन्तर ही गतिशील रहता है। दुम तो इससे भी अधिक हिलती रहती है। कानों के हिलने के बारे में सामान्यत: ऐसा माना जाता है कि ये मुख्यत: तन्त्रिका प्रतिवर्तन (नर्वस रिफलैक्स) ही प्रकट करते हैं। यह ठीक उसी तरह का प्रतिवर्तन है जिस प्रकार मनुष्यों में आंखें झपकती रहती हैं।

हाथी प्राय: सदा खड़ा ही रहता है। यह अपेक्षतया कम ही समय नीचे बैठता है और वह भी रात के समय। दिन के समय तो बहुत थका होने पर ही बैठता है।

यह धारणा बहुत प्रचलित है कि हाथी बहुत कम सोते हैं और यदि सोते भी हैं तो बहुत ही थोड़े समय के लिए। परन्तु वास्तविक प्रेक्षणों से प्रकट हुआ है कि अवसर दिये जाने पर ये सोने के लिए लेट जाते हैं विशेष रूप से रात 11 बजे से लेकर प्रात: 4 बजे तक। हाथी सचमुच में ही खड़े खड़े नींद का झोंका ले सकता है। ऐसी स्थिति में इसके खड़े होने की विशिष्ट स्थिति ऐसी होती है कि सिर और सूंड गतिशून्य होती है। सूंड का सिरा बिल्कुल हिले जुले बिना धरती पर पड़ा होता है।

हाथियों का मूल्य उनकी उम्र और प्रशिक्षण के अनुसार लगता है। अच्छी तरह से प्रशिक्षित दांतों वाले हाथी की कीमत सबसे अधिक होती है। ये अहातों और जंगलों में, दोनों ही स्थानों पर, अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि गजदंत और सूंड की सहायता से ये इमारती लकडी को ठीक तरह से जमाकर रख पाते हैं तथा लट्ठों को बाधाओं के ऊपर से गुजारकर ले जा सकते हैं। हाथियों का मूल्य गजदंत के फैलाव और मोटाई के मुताबिक भी पड़ता है।

अच्छे हाथी की मुख्य विशिष्टताएं हैं: मध्यम ऊंचाई, चौड़ी छाती, मगरमच्छ की चमड़ी जैसी झुर्रीदार चमड़ी, बड़ा सिर, चौड़ा माथा, लम्बे कान तथा ऐसी आंखें जिनसे बहुत अधिक आंसू न निकलते रहें। सूंड अच्छी खासी लम्बी होनी चाहिए। वह जड़ के पास चौड़ी होनी चाहिए और उसका आगे का भाग गुलाबी रंग के धब्बों से भरा होना चाहिए। गर्दन छोटी, मोटी और भरी हुई होनी चाहिए। पीठ सीधी और चौड़ी होनी चाहिए। अगली टांगें छोटी और आगे की तरफ अवतल होनी चाहिएं। पिछले पुट्ठे भरे हुए व ढलान वाले होने चाहिएं। इसके नीचे के अंग छोटे व मोटे होने चाहिएं। पांव की गद्दियां कठोर, नाखून मुलायम और चमकीले होने चाहिएं। चाल तेज और सहज होनी चाहिए। दुम लम्बी और अच्छी कूंची व खड़े कठोर बालों वाली होनी चाहिए।

खूब मेहराबदार पीठ, उभरी हुई रीढ़ की रिज, पतली और हल्के रंग की चमड़ी तथा लम्बी टांगों वाला हाथी अच्छा नहीं माना जाता।

हाथियों का प्रजनन व पालन पोषण

हाथियों के प्रजनन के बारे में बहुत ही अल्प जानकारी उपलब्ध है। सामान्यत: पकड़े गये हाथी कम ही बच्चे पैदा करते हैं। ऐसे हाथी जिन्हें जंगल में इधर उधर चरने की छूट दी जाती है अथवा रात्रि में जिन्हें जंगल में छोड़ दिया जाता है अपेक्षतया अधिक स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें आपस में मैथुन हो सकता है। जंगलों में छोड़ी पालतू हथिनियों से जंगली हाथियों के मेल की घटनाओं की कोई कमी नहीं। हाथी 8 से 15 वर्ष की उम्र के बीच प्रजनन के लिए समर्थ हो जाता है। 70 की आयु होने तक प्रजनन करता रह सकता है।

जंगली हथिनी 2½ अथवा 3 वर्ष में एक बार बच्चा देती है और सारे जीवन में 15 अथवा इससे अधिक बच्चे पैदा कर सकती है।

'मस्ती' हाथियों की वह अवस्था है जिसका अभी तक पूरा अध्ययन नहीं किया गया और न ही उसकी व्याख्या ही की गयी है। पालतू हाथी नियमित रूप से मस्ती में आते हैं और लगभग तीन सप्ताह तक इसमें रहते हैं। कभी कभी इसे हाथियों में मेल से पहले लड़ने और मारने की नैसर्गिक इच्छा का संकेत बतलाया जाता है। हथिनियों का स्वभाव इस अवस्था में अधिक नहीं बिगड़ता।

मद अवधि बहुत खतरनाक मानी जाती है। मद में आये हाथियों द्वारा महावतों तक को मार दिया जाना देखा गया है। हाथी को जंजीरों से बांध दिया जाना चाहिए और इसे खुराक बड़ी सावधानी से दी जानी चाहिए। मद काल में हाथियों को प्राय: अतिरिक्त कार्य दिया जाता है ताकि उनका यह समय शान्तिपूर्वक निकल जाये।

आंखों और कानों के बीच ग्रंथियों से निकलने वाले गहरे काले रंग के तेल के समान द्रव्य का मस्ती की तीव्रता से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, यद्यपि मद काल के साथ ही यह स्राव अधिक हो जाता है। हाथी और हथिनी, दोनों ही, में ये ग्रंथियां होती हैं।

हथिनी में लैंगिक सक्रियता बहुत ही न्यून स्तर पर होती है। अधिकतर पालतू और बड़े आकार के पशुओं में देखी जाने वाली उत्तेजना के समान हाथी में उत्तेजना के चिह्न बहुत कम ही देखे जाते हैं। हथिनियों में तो गर्मी के लक्षण कम ही दीखते हैं।

हाथियों में मेल अन्य घरेलू चौपायों के मेल से अधिक भिन्न नहीं होता। मेल से पहले ये दोनों एक दूसरे से लैंगिक खिलवाड़ काफी करते हैं। हाथी अपनी सूंड से हथिनी को दुलारता है। प्रायः उसे सूंड से पकड़ लेता है। इस सारी प्रक्रिया में हाथी के पुट्ठे, सूंड, दुम और कान निरन्तर बड़ी तेजी से हिलते रहते हैं। इससे पता चलता है कि यह असाधारण भावावेग में है।

हाथी मेल के समय वैसी ही स्थिति में होता है जिस स्थिति में अन्य स्तनपायी प्राणी हो जाते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि हथिनी अगले अंगों को मोड़कर घुटनों के भार झुक जाती है। मिलन के समय हाथी अगली टांगें हथिनी की रीढ़ के दोनों तरफ कन्धों तक आगे रख देता है। हाथी न तो जोर से पकड़ता है और न ही अगली टांगों से अपने को स्थिर करता है। यह धीरे धीरे अपनी पिछली टांगों पर बैठता है यहां तक कि अंत में

वह बैठ जाता है, तब यह अपने पिछले अंगों को सीधा करता है और अपने को उठा लेता है। मेल तो थोड़े ही समय, लगभग एक मिनट, रहता है। किसी प्रकार का जोर लगाते देखा नहीं गया। मेल के पश्चात् हाथी हटकर चुप हो जाता है। हथिनी तब भी भावावेग की मन: स्थिति में होती है। वह बड़ी मृदुता से तुरही की सी आवाज निकालती है, कान फड़फड़ाती है और दुम हिलाती है।

हथिनियों में गर्भधारण की औसत अवधि 20 मास है जो 18 से 22 मास तक हो सकती है। हथिनियां हाथियों को गर्भावस्था में भी मैथुन करने देती हैं। यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि बच्चा देने के आठ दस मास तक ये हाथी को अपने पास आने नहीं देतीं। हाथियों में एक साथ दो बच्चे बहुत ही कम होते हैं।

गर्भवती हथिनी की स्तन्य ग्रंथियों में काफी फैलाव देखा जा सकता है। अन्यथा तो वे सामान्य ही दिखायी देती हैं। जब उसके बच्चा होने का समय थोड़ा रह जाता है तो भी काम में होने वाले शारीरिक तनाव को वह सह लेती है। अनुचित कठोर श्रम से गर्भस्त्राव होना बहुत कम ही देखने में आया है।

हथिनी का बच्चा देना

सामान्य प्रसव में बहुत थोड़ा समय लगता है। प्रसव के समय हथिनी में बेचैनी और तीव्र पीड़ा के लक्षण दिखायी देते हैं। वह कराहती है और अपने शरीर को मोड़ती तरोड़ती है। सिर को प्राय: इधर उधर पटकती है। इसकी सूंड हवा में इधर उधर घूमती है।

प्रसव से लगभग एक घण्टा पहले जनन मार्ग से प्रस्त्राव देखा जा सकता है। बच्चा जब होने ही वाला होता है तो हथिनी नरम जमीन की तलाश करती है। तब यह शांत वातावरण चाहती है। जंगली हाथियों में हथिनी जिस झुंड की होती है उसमें उत्तेजना के चिह्न दिखने लगते हैं। कुछ हथिनियां झुण्ड से अलग होकर इसके साथ बच्चा देने के स्थान तक जाती हैं। यह स्थान प्राय: घनी झाड़ियों वाला होता है। वहां ये इसकी रक्षा के लिए खड़ी हो जाती हैं। बच्चा होने के कुछ देर बाद ये पुन: झुंड में शामिल हो जाती हैं।

प्रसव के समय जब रुधिर का पहला थक्का निकलता है तो हथिनी सूंड जमीन पर गिरा देती है। यह बिल्कुल शान्त हो जाती है। यह कभी एक तरफ और कभी दूसरी तरफ अपने को सिकोड़ती है और कभी कभी सूंड टांगों के बीच रखकर पीछे की तरफ धकेलती है। इस समय इसकी टांगें आगे फैली होती हैं। यह दोहरी हो जाती है और कुत्ते की तरह मुद्रा बना लेती है। सूंड इसकी अगली टांगों के बीच में होती है और वजन पिछली टांगों पर। प्राय: हथिनी को प्रसव के समय अधलेटी मुद्रा लेते देखा गया है। बच्चा ठीक तरह से न हो पाने के कारण हथिनियों की प्राय: मौत होती ही रहती है।

बच्चा जिस समय होता है तो उसका सिर और अगली टांगें पहले निकलती हैं। तब गर्भ का मल बाहर निकलता है। ज्यों ही वह नीचे गिरता है, नाभि रज्जु टूट जाती है। हाथी का बच्चा अपनी एक तरफ लेट जाता है। यदि गर्भ की झिल्लियां फटे नहीं तो हथिनी अपने पांव से उन्हें फाड़ देती है।

बच्चे के सारे शरीर पर फर होती है। किशोर हाथियों की यह विशिष्टता है। बच्चे के बड़े होने के साथ साथ यह बड़ी तेजी से समाप्त होती जाती है। हाथी का बच्चा जन्म के कुछ देर बाद ही मल त्यागता है। तब वह एक या दो घण्टे तक लेटा रहता है। बीच बीच में वह कान और सूंड हिलाता है। इसके बाद वह पांवों पर खड़ा हो चलने लगता है। प्रसव मल (अपरा) के लिए दर्द, बच्चा होने के एक या दो घण्टे बाद शुरू होता है। सारा मल एक या दो घण्टे में निकल जाता है। इसके बाद बहुत अधिक मात्रा में रुधिर और थक्के निकलते हैं। मल नीचे गिरते ही प्राय: हथिनी उसे खा लेती है।

हाथी के नवजात बच्चे का वजन लगभग 100 किलोग्राम होता है। यह हथिनी के वजन का लगभग 3 या 4 प्रतिशत है। अन्य प्राणियों में माता और बच्चे के वजन के आपसी अनुपात से इसकी तुलना की जाये तो हाथी के बच्चे का वजन बहुत कम है। मानव शिशु का वजन माता के वजन का लगभग 6 या 7 प्रतिशत होता है। गाय के बछड़े या बछिया का वजन गाय के वजन के 8 प्रतिशत से कुछ कम होता है। नवजात हाथी की कन्धे तक की ऊंचाई 90 सेण्टीमीटर होती है।

नवजात बच्चा मुख से स्तन चूसता है। वह शीघ्र खेलने लगता है और बहुत सक्रिय हो जाता है। प्रारम्भ में तो वह बड़ी तेजी से बढ़ता है। कुछ दिन के बाद ही बच्चा काफी अच्छी तरह से चलने लगता है। वह थोड़ी थोड़ी दूर तक तो अपनी माता के पीछे पीछे चल लेता है। जंगलों में हथिनी के जब बच्चा जन्म ले लेता है तो गज-यूथ उस समय तक उसी क्षेत्र के आसपास बना रहता है जब तक बच्चा अपनी माता का अनुगमन करने लायक हो नहीं जाता। लगभग 48 घण्टे में बच्चे में चलने की इतनी शक्ति आ जाती है।

हथिनी प्राय: अपने बच्चे से बहुत प्रेम करती है। वह कभी भी अपरिचित बच्चे को दूध नहीं पिलाती। जब इसके पास बच्चा होता है तो यह बड़ी खतरनाक और क्रोधी हो जाती है। बच्चा दो से तीन वर्ष तक माता का दूध पीता रहता है। पालतू हथिनियों में बच्चे से लगभग डेढ़ वर्ष की उम्र में ही दूध छुड़वा दिया जाता है।

हथिनी के दूध की संरचना

हथिनी के दूध का विशिष्ट स्वाद और गन्ध होती है। औसत नमूने में 9.10 प्रतिशत वसा, 2.51 प्रतिशत प्रोटीन, 8.59 प्रतिशत शर्करा, 0.50 प्रतिशत खनिज और 79.30 प्रतिशत जल होता है। औसतन गाय के दूध की तुलना में इसमें ठोस पदार्थ 8 प्रतिशत अधिक और वसा 4 प्रतिशत से अधिक होती है।

हाथी के बच्चे कुछ मास तक केवल मां के दूध पर रहते हैं। घास खाना शुरू करने के कुछ देर बाद भी वे दूध पीना जारी रखते हैं। हथिनियों के अयन में दो ग्रन्थियां होती हैं। ये अगली टांगों के ठीक बीच छाती पर स्थित होती हैं। प्रसव काल के अन्तिम भाग में ये काफी बढ़ जाती हैं। कई बार तो प्रसव से पहले ही इनमें से दूध निकलने लगता है।

हाथियों की खुराक

कहा जाता है कि हाथियों का जीवन निरन्तर भोजन में ही बीतता है। इनके सामने जब तक कुछ खाने को रहता है, ये खाते रहते हैं चाहे इनकी भूख पूरी तरह से शान्त ही क्यों न हो चुकी हो। जंगली हाथी में तो 24 घण्टे के अधिकांश भाग में कुछ न कुछ चबाते रहने की आदत होती है।

हाथी के मुंह तक सारा भोजन सूंड के द्वारा ही पहुंचता है। घास खाने वाले अन्य जानवरों के विपरीत हाथी का आमाशय मामूली, सीधा सा थैला होता है। इसकी लम्बाई लगभग एक मीटर होती है। आन्त्रिक पथ की कुल लम्बाई लगभग 30 मीटर होती है। हाथी के विशाल आकार को देखते हुए तो आंतों की यह लम्बाई बहुत कम है। यह लम्बाई घोड़े अथवा खच्चर की आंतों की लम्बाई के लगभग बराबर है।

हाथी की आंतों में से खाना काफी तेजी से गुजर जाता है। इसका बहुत कुछ कारण तो यह है कि हाथी जुगाली करने वाला जानवर नहीं। भोजन आंत मार्ग में लगभग 24 घण्टे बना रहता है।

हाथियों के आंतों का वजन शरीर के वजन का लगभग 10 प्रतिशत होता है। बैल इत्यादि जुगाली करने वाले बड़े जानवरों की तुलना में यह कहीं कम है। उनमें तो आंतों का वजन शरीर के वजन का 40 प्रतिशत तक होता है। हाथी द्वारा प्रतिदिन किये जाने वाले मल का वजन 110 किलोग्राम होता है। एक बार में यह पांच या छ: गोले मल फेंकता है। प्रत्येक का वजन दो किलोग्राम तक हो सकता है। हाथी के मल को देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वह कुट्टी किये भूसे का ढेर हो। अन्य पालतू पशुओं की तुलना में हाथी भूसे को बहुत ही कम मात्रा में पचा पाता है।

हाथी एक बार में औसतन 5 लिटर पेशाब करता है। दिन भर में किए गए पेशाब का कुल परिमाण लगभग 50 लिटर होता है।

वस्तुत: हाथी तो वन्य पशु है। इसके भोजन में मुख्य रूप से वृक्षों के पत्ते, ताजे लगे नरम बांस की टहनियां और हरी घास होती है। निर्बाध चरने देने से अधिक अच्छी हाथी के स्वास्थ्य के लिए और कोई चीज नहीं। जहां कहीं परिस्थितियां अनुकूल हों, हाथियों को खुले में चरने देना चाहिए जिससे ये अपना चारा स्वयं चुन सकें। परन्तु इन्हें दलदलों अथवा जल आप्लावित क्षेत्रों में चरने नहीं दिया जाना चाहिए।

हाथी को खिलाते समय यह देख लिया जाना चाहिए कि इसके लिए चारा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। चारा मीठा भी होना चाहिए। चारा इसकी पसन्द का होना चाहिए। हाथी बड़ा तुनक मिजाज जानवर है। सामने रखी हर चीज को ही यह नहीं खा लेता। जहां तक सम्भव हो चारा न केवल अच्छी किस्म का ही होना चाहिए परन्तु यह बदल बदल कर भी दिया जाना चाहिए।

हरी घास के अतिरिक्त हाथी पीपल, बड़ तथा अंजीर की विभिन्न किस्मों तथा कटहल वृक्ष की शाखाएं व पत्ते तथा ताड़ और बांस की नयी नयी कोपलें और उनके सिरे खाते हैं। हाथी गन्ना और केले के तनों और पत्तों, तरबूज, बेल, अनानास, पंखिया खजूर, नारियल तथा अन्य जंगली फलों को पसन्द करते हैं।

हाथी को प्रतिदिन दिये जाने वाले हरे चारे की मात्रा तो इस पर निर्भर करती है कि इसे सूखा चारा कितना दिया गया है। सामान्यत: हाथी को उतनी हरी घास मिलनी चाहिए जितनी यह खा सके। चारे की बिल्कुल सही सही मात्रा का तो सबसे अच्छा अनुमान इसी से हो सकता है कि यह 24 घण्टे में कितना खा सकता है। मोटे तौर पर 160 से 180 किलोग्राम तक ताजी कटी घास अथवा चारे को हाथी के लिए एक दिन के लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिए।

पालतू हाथियों और विशेष काम में लगे हाथियों को घास तथा अन्य चारे के अतिरिक्त कुछ मात्रा में सांद्रित राशन भी दिया जाना चाहिए। सांद्रित राशन में प्राय: चावल, धान और मोटा आटा होता है। चावल अथवा धान मोटा पिसा हो तो वह बड़ी आसानी से हाथी को पच जाता है। गेहूं का आटा तो प्राय: चपातियां बनाकर दिया जाता है। चपातियां भी आमतौर पर गुड़ डालकर मीठी बना ली जाती हैं। गर्मियों में तो विशेष रूप से इमली का गूदा और उबले प्याज भी मिला दिये जाते हैं। सेना में मध्यम आकार के हाथियों को, जब कि ये कमान पर होते हैं, प्रतिदिन 6.8 किलोग्राम अनाज, 80 किलोग्राम सूखा चारा और 180 किलोग्राम हरा चारा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें 56 ग्राम नमक और 28 ग्राम तेल भी प्रतिदिन दिया जाता है। बड़े हाथियों को 90 किलोग्राम सूखा चारा और 215 किलोग्राम हरा चारा दिया जाता है।

चिड़ियाघरों में रखे हाथियों को भारत में मौसम के हिसाब से प्राय: ज्वार-बाजरे और जई का 100 किलोग्राम हरा चारा, पीपल और नीम आदि वृक्षों के 75 किलोग्राम पत्ते और एक किलोग्राम गाजर दी जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें 5 किलोग्राम गेहूं की चपातियां, 2 किलोग्राम गुड़ और 100 ग्राम नमक तथा 100 ग्राम मूंगफली का तेल भी दिया जाता है।

हाथी के काम करने के समय को छोड़कर और सब समय उन्हें खाने को दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि काम से पहले और बाद का समय ही ताजा चारा देने का सबसे उपयुक्त समय है। सर्कस में काम करने वाले हाथियों को प्रतिदिन 5 या 6 बार खिलाया जाता है। सांद्रित राशन खिलाने का सबसे अच्छा समय तो तब होता है जब कि यह सामान्य खुराक खा चुका होता है।

जल पिलाना

हाथी को ठीक रखने के लिए साफ और ताजे जल की अत्यधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। पूरा बड़ा हाथी प्रतिदिन लगभग 190 लिटर जल पीता है। एक बार इसे 70 लिटर जल की आवश्यकता होती है। हाथी अपनी सूंड से पानी चूस लेता है और तब उसे गले में डाल लेता है। पीने की पूरी विधि अर्थात् जल लेने, सूंड उठाकर मुंह तक लाने तथा जल को गले में उंडेलने में लगभग 4 सेकेण्ड लगते हैं।

हाथी प्राय: प्रात:काल और सायंकाल नहाने के समय ही जल पीते हैं। यदि नहाने के स्थान पर सड़ांध वाला पानी हो तो हाथी को पहले से ही किसी अच्छे स्त्रोत से जल पिला देना चाहिए। हाथियों को बहते पानी में से जल पीना अधिक पसन्द है। ये बड़ी नदियों की अपेक्षा छोटी

जल धाराओं से जल पीना अधिक पसन्द करते हैं। सोते का अथवा कुएं का जल भी पिलाना अच्छा रहता है। हाथी को किसी भी अवस्था में तालों और मवेशियों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले तालाबों से पानी नहीं पीने दिया जाना चाहिए। हाथियों को दिन में कम से कम दो बार जल दिया जाना चाहिए। तीन बार जल पिलाना तो और भी अच्छा रहता है। भोजन से लगभग एक घण्टा पहले इन्हें जल पिलाया जाना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में तो यात्रा के समय मार्ग में उपलब्ध जल को देखकर ही इनके चलने का कार्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए।

हाथियों का सामान्य प्रबन्ध

सामान्यत: हाथी अत्यधिक दब्बू और शान्त पशु है। इसकी देखभाल तथा प्रशिक्षण में विशेष कठिनाई नहीं होती। अत्यंत विशाल शरीर के बावजूद हाथी आश्चर्यजनक रूप से चुस्त और आज्ञापालक है। इनमें मनुष्य के लिए काम करने की क्षमता है। ये अधीरता और अत्यंत शीघ्रता से उत्तेजित हो जाने के कारण भी विख्यात हैं। बिना किसी जाहिर कारण के ही ये आतंकित हो जाते हैं। युद्ध में उपयोग के समय अपने अधीर स्वभाव के कारण हाथी शत्रु की हानि के बजाय अपनी ही सेना को कुचलकर अपनी सेना का ही अधिक नुकसान कर देते थे। हाथियों की बड़ी सावधानी से देखभाल की जानी आवश्यक है।

हाथी यद्यपि बहुत ही विशाल जानवर है तो भी इसकी सहनशक्ति जितनी समझी जाती है उससे कहीं कम है। इसकी बनावट अपेक्षतया नाजुक होती है। अन्य पालतू जानवरों के विपरीत, जो पालतू अवस्था में ही पैदा होते हैं और बड़े होते हैं, हाथी पकड़े जाने से पूर्व कई वर्ष तक अपना स्वाभाविक जीवन ही व्यतीत करते हैं। इन्हें ऐसी परिस्थितियों में काम करना पड़ता है जो इनके प्राकृतिक निवास से बहुत भिन्न होती हैं। इसलिए इनकी विशेष देखभाल और ध्यान देने की आवश्यकता होती है। थोड़ी सी उपेक्षा से भी बहुमूल्य जानवर खो दिये जाने की आशंका रहती है।

हाथी से जितने काम की आशा की जाती है, वह काम की किस्म और हाथी की विशेष बनावट पर निर्भर करता है। अन्य पालतू जानवरों के विपरीत सामान्यत: ग्रीष्म ऋतु में हाथियों से सवेरे दस से लेकर दोपहर बाद 3 बजे के बीच खुले में काम नहीं लेना चाहिए। हाथियों से लकड़ी के लट्ठे खींचने का काम लेते समय सबसे अच्छा तो यही रहता है कि प्रात:काल तीन घण्टे और सायंकाल तीन घण्टे इनसे काम लिया जाये। जहां कहीं सम्भव हो, इन्हें अनावश्यक श्रम से बचाने के लिए खींचने की विशेष गाड़ियां इस्तेमाल की जानी चाहिएं। बनावट की दृष्टि से तो हाथी भारवाही पशु है। यद्यपि इस बारे में मत भिन्न हैं कि यह जानवर अधिक से अधिक कितना वजन खींच सकता है। 450 से 550 किलोग्राम तक का वजन खिंचवाना ठीक रहता है।

काम के पश्चात् यह आवश्यक है कि हाथी के शरीर के उन सभी भागों को देख लिया जाये जिनकी रगड़ से घाव की सम्भावना हो सकती है। यदि हाथी ने भार उठाया हो तो इसकी देखभाल करने वाले व्यक्ति को इसकी पीठ रगड़नी चाहिए। इसकी सूंड तथा पांवों को बड़ी सावधानी से देखा जाना चाहिए कि कहीं उनमें खरोंच तो नहीं लगी; वे कहीं कट तो नहीं गये

अथवा उनमें कांटे और बांसों की नुकीली फांस आदि तो नहीं लगी रह गयी। वर्षा ऋतु में इसकी टांगें देखी जानी चाहिएं कि कहीं उनमें जोंक तो नहीं लगी हुई।

हाथी को हांकना एक कला है। अच्छे सवार को जानवर पर चिल्लाना नहीं चाहिए। अनावश्यक रूप से अंकुश इस्तेमाल करके हाथी को गोदा भी नहीं जाना चाहिए। अच्छा महावत तो मुंह से आदेश देकर ही हाथी को नियंत्रित करता है। आवश्यकता हो तो घुटनों तथा पांवों का उपयुक्त प्रयोग करके इसे नियन्त्रित किया जा सकता है।

हाथी को सूर्य की सीधी धूप पसन्द नहीं। सूर्य की सीधी धूप में इन्हें रखना खतरनाक है क्योंकि इससे सरसाम होने की आशंका रहती है। धूप में काम कर रहे हाथी के सिर और गर्दन को ढांपने के लिए किसी चीज का बना कोई आवरण होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि जल के निकास की व्यवस्था ठीक हो तो वर्षा से हाथी को कोई अधिक हानि नहीं होती। ठण्डी हवा से इसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

हाथी को स्वस्थ रखने के लिए विश्राम और नींद बहुत आवश्यक हैं। काम से लौटने के पश्चात् हाथी को चारे के लिए भी प्रतीक्षा करवाना अच्छा नहीं। यदि हाथी को मध्य रात्रि से पहले खाने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता तो यह नींद की कीमत पर भी सारी रात अपना खाना जारी रखेगा।

हाथी जब काम में नहीं लगे होते तो आवश्यक है कि इन्हें प्रतिदिन व्यायाम करवाया जाये। कई बार तो चारे के लिए की जाने वाली दैनिक यात्रा ही पर्याप्त रहती है। सबसे अच्छा तो यह रहता है कि प्रातःकाल तथा सायंकाल इन्हें एक घण्टा चलाया जाये। हाथियों को प्रायः **खेड़ा** विधि से यूथों में पकड़ा जाता है।

हाथियों के लिए आरक्षण स्थल

हाथियों को रखने के लिए जब अच्छा प्राकृतिक आरक्षण स्थान उपलब्ध न हो तभी कृत्रिम आरक्षण स्थान की आवश्यकता होती है। सदा हरे रहने वाले वृक्षों के झुंड, जहां जल के निकास की अच्छी व्यवस्था हो, हाथी रखने का सर्वोत्तम स्थान है। हाथी के खड़े होने के लिए पर्याप्त स्थान होना चाहिए और यह निरन्तर बदलते रहना चाहिए। अहातों में काम करने वाले हाथियों के लिए 'शैड' आवश्यक होते हैं। ये आरक्षित तथा नालीदार स्थानों पर ही बनाये जाने चाहिएं तथा इनमें कंकरीट अथवा कंकड़ों से बने ऊंचे ढलान वाले फर्श होने चाहिएं। लकड़ी के फट्टों से बनाये गये फर्श उपयुक्त नहीं रहते। आमतौर पर ये पेशाब से खराब हो जाते हैं।

हाथियों को रखने का स्थान चुनते समय यह अवश्य देख लेना चाहिए कि वह ढलान वाला हो। हाथी का मुख ऊंचाई की तरफ होना चाहिए अन्यथा यदि यह लेट गया तो इसे उठने में काफी कठिनाई हो सकती है। इन्हें खड़े रखने का स्थान भूमि पर नहीं होना चाहिए और न ही वहां पर पत्थर तथा ठूंठ इत्यादि होने चाहिएं।

स्नान

हाथियों को स्वस्थ रखने के लिए इन्हें नियमित रूप से स्नान करवाना बहुत आवश्यक है। स्नान में किसी अन्य प्राणी को इतना आनंद नहीं आता जितना हाथी को। जंगली हाथी तो पर्वतीय जल धाराओं, गहरे ठण्डे तालाबों में और यहां तक कि विशाल नदियों में भी स्नान के लिए प्रतिदिन जाना पसन्द करते हैं। हाथी बहुत अच्छे तैराक होते हैं। सारे शरीर को जल में डुबोये रखकर भी सूंड के सहारे बिना किसी कठिनाई के सांस ले लेते हैं।

हाथियों के स्नान के लिए जल कम से कम इतना तो गहरा होना चाहिए कि डुबकी लगाने पर इनका सारा शरीर पूरी तरह से जल में डूब जाये। किसी भी अवस्था में हाथियों को ऐसे स्थानों पर नहीं रखना चाहिए जहां स्नान की सुविधा उपलब्ध न हो। दिन निकलने के कुछ देर पश्चात् और सूर्यास्त के कुछ देर बाद स्नान के लिए इन्हें जल में ले जाया जाना अधिक अच्छा रहता है। देखभाल करने वाले कर्मचारी को मुलायम पत्थर अथवा नारियल के रेशों से हाथी को रगड़ना चाहिए।

हाथियों की बीमारी

यदि हाथियों की उचित देखभाल की जाती रहे और इन पर ध्यान दिया जाता रहे तो ये प्राय: अस्वस्थ नहीं होते। तथापि इन्हें अच्छा रोगी नहीं माना जाता। इनकी जीवनदायी प्रक्रिया धीमी होने के कारण बीमारी अधिक लम्बे समय तक चलती है। हाथी को स्वस्थ होने में बहुत समय लगता है। हाथी के शरीर का सामान्य तापमान 36.3 से 36.6 दर्जे सेल्सियस (97.4 से 98 दर्जे फॉरनहीट) के बीच बदलता रहता है। हाथियों का तापमान 37.8 दर्जे सेल्सियस (100 दर्जे फॉरनहीट) होना काफी ज्वर का सूचक है। तापमान में 2 से 3 दर्जे की वृद्धि चिंताजनक मानी जाती है। हाथी का तापमान थर्मामीटर को गुदा में डालकर लिया जाता है। इसके लिए आम डाक्टरी थर्मामीटर ही उपयोग किया जाता है। परन्तु यह सावधानी बरती जानी चाहिए कि थर्मामीटर गुदा से काफी भीतर चला जाये और कम से कम एक मिनट तक वहां रखा जाये। हाथियों के लिए विशेष थर्मामीटर भी मिलते हैं।

खड़े हाथी की श्वसन गति लगभग 10 है। जब यह शान्तिपूर्वक लेटा होता है तो यह गति 4 से 5 तक होती है। हाथी जब खड़ा होता है तो इसकी नाड़ी की सामान्य गति 28 प्रति मिनट और जब यह लेटा होता है तो 35 प्रति मिनट होती है।

हाथी के रोगी होने का पहला लक्षण तो यह है कि सूंड, कानों और शरीर का सामान्य हिलना जुलना रुक जाता है। स्वस्थ हाथी की सूंड, कान, अन्य अंग तथा शरीर हिलता ही रहता है। हाथी सुस्त दिखायी देता है। भूख इसकी आंशिक रूप से अथवा पूरी तरह समाप्त हो जाती है। तापमान में वृद्धि हो जाती है। रोगी होने के अन्य लक्षण हैं: मुख में शुष्कता, कोष्ठबद्धता, गहरे रंग के पेशाब का कम मात्रा में आना, आंखों से जल बहना और उनका लाल हो जाना, नाड़ी का त्वरित होना तथा सामान्य स्वास्थ्य में गिरावट।

रोकथाम के सामान्य उपाय

जब कभी रोग का संकेत मिले तो हाथी को पर्याप्त विश्राम दिया जाना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में ठण्डे और छायादार स्थान में इसे रखना चाहिए। वर्षा ऋतु में जानवर को भीगने से बचाया जाना चाहिए। न ही इसे ठण्डी हवा लगने दी जानी चाहिए। अनाज देना बिल्कुल बन्द कर दिया जाना चाहिए। न ही मोटा और सूखा चारा इसे दिया जाना चाहिए। यथासम्भव ताजा कटा हरा चारा ही इन्हें दिया जाना चाहिए। जल पर्याप्त मात्रा में दिया जाना चाहिए। जल पिलाने के लिए इसे अधिक दूर नहीं ले जाया जाना चाहिए।

संक्रामक रोग में तो जानवर को स्वस्थ हाथियों से तुरन्त ही पृथक कर दिया जाना चाहिए। इसे नये स्थान पर ले जाया जाना चाहिए। अहाते को अच्छी तरह कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए और सभी बर्तनों तथा उपकरणों को भी कृमिविहीन कर दिया जाना चाहिए। रोगी हाथी के मल मूत्र को जलाकर नष्ट किया जाना चाहिए तथा मृत हाथी के शरीर को गहरे गड्ढे में दबा दिया जाना चाहिए।

हाथियों के सामान्य रोग

एन्थ्रेक्स : यह संक्रामक रोग है जिससे हाथी प्रायः आक्रांत होते हैं। यह रोग वर्षा ऋतु में होता है और शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर असर करता है। इस रोग में तापमान बढ़ जाता है और श्लेष्मक झिल्लियों से खून निकलने लगता है।

रोकथाम के लिए रोगी पशु को तुरन्त ही अलग कर दिया जाना चाहिए। दूषित स्थान को अच्छी तरह से कृमिविहीन किया जाना चाहिए। इसके काम आने वाली घास फूस की शैया को जलाकर नष्ट किया जाना चाहिए। मृत हाथी के शरीर को काटना नहीं चाहिए। उसे गहराई में दबा दिया जाना चाहिए।

हैमरेज सैप्टीसेमिया: अत्यधिक संक्रामक रोग है। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ अथवा समाप्ति के निकट यह रोग बहुत अधिक फैलता है। इस रोग के सामान्य लक्षण हैं: भूख का बिल्कुल समाप्त होना; मुख का प्रायः खुला रहना; सूंड का सिकुड़ा रहना; तेज ज्वर और सिर, गर्दन, कन्धों तथा जबड़ों में सूजन। इस रोग में हाथी को पेचिश भी हो सकती है। इसे पेशाब कम मात्रा में आने लगता है। पेशाब कुछ गहरे रंग का मटमैला सा होता है। रोकथाम के सामान्य उपायों के अतिरिक्त चिकित्सा का कोई विशेष लाभ नहीं होता।

ट्रिपैमोसोमेरस: हाथी सुर्रा अथवा नींद आने की बीमारी: इस बीमारी में हाथी को रुक रुककर ज्वर होता है। यह स्वस्थ हो पुन: ज्वरग्रस्त हो जाता है। हाथी सुस्त हो जाता है। यह इधर उधर हिलना डुलना बन्द कर देता है। इस रोग से पीड़ित हाथियों की श्लेष्मक झिल्लियां पीली होती हैं। उनमें कुछ पीलापन सा आ जाता है। पेशाब बहुत कम आता है और रंग कुछ हरा सा होता है। हाथी की हालत धीरे धीरे बिगड़ती जाती है।

इसके रोकथाम के उपायों में हैं, दलदल वाले स्थानों में हाथी को न रखना तथा मक्खियों के काटने से बचाव।

पांव और मुख की बीमारी: यह रोग भी हाथियों में होता है। इसके विशिष्ट लक्षण हैं: मुख का दुखना, तापमान बढ़ना और खाना बिल्कुल ही बन्द कर देना। जीभ पर, गालों पर और सूंड की श्लेष्मक झिल्ली पर क्षत हो जाना। खाने की क्षमता न रहने के कारण हाथी की दशा बिगड़ने लगती है। पैरों पर रोग का असर होता है तो वे फूलकर नरम पड़ जाते हैं और हाथी लंगड़ाने सा लगता है।

यह संक्रामक रोग है। सफाई और स्वास्थ्यकर परिस्थितियां रखना आवश्यक है। रोग पीड़ित हाथी के मुख और पांवों को प्रतिदिन लोशन से दिन में 3 या 4 बार धोया जाना चाहिए। यह बीमारी घातक तो नहीं परन्तु यदि पूरी सावधानी न बरती जाये तो इससे काम में बहुत बाधा पड़ सकती है।

हाथी चेचक: यह विशिष्ट प्रकार का ज्वर है और इससे शरीर पर लगभग कुछ वैसे वैसे ही फफोले हो जाते हैं जैसे कि चेचक के समय मनुष्य में। तापमान बढ़ जाता है। हाथी निर्बल हो जाता है। यह बिल्कुल ही सुस्त हो जाता है। दाने फुंसियों के रूप में निकलते हैं और तब ये फुंसियां फफोले बन जाती हैं। इन फफोलों में निर्मल तरल पदार्थ होता है। अंततः वे फूट जाते हैं और क्षत स्थान और शल्क छोड़ जाते हैं।

यह बहुत ही उग्र और संक्रामक रोग है। रोगी हाथी को पृथक कर देना चाहिए तथा अहाते को अच्छी तरह से कृमिविहीन कर देना चाहिए।

रेबीज (हलका): हाथियों में रेबीज रोग कुत्ते के काटे जाने से हो सकता है। गीदड़ और भेड़ियों के काटने से भी यह रोग हो सकता है। इस रोग के प्रारंभिक लक्षण हैं: अत्यधिक बेचैनी, कंपकंपी, मांसपेशियों का अपने आप ही बड़ी तेजी से सिकुड़ना तथा बंधने के स्थान से जंजीर तुड़ाकर भागने की प्रवृत्ति। हाथी की भूख कम होने लगती है। इसे प्यास अधिक लगती है। हाथी प्राय: चीखता है और विचित्र ध्वनियां निकालता है। यह बहुत क्रुद्ध और हिंसक हो जाता है। हाथी को बसे स्थानों से दूर हटा दिया जाना चाहिए। इसे अच्छी तरह से सुरक्षित रखना चाहिए और निरन्तर इस पर निगरानी रखी जानी चाहिए। हिंसक और उग्र होने के संकेत मिलने पर हाथी को जंजीरों से बांध दिया जाना और तुरन्त मार देना चाहिए।

8. मुर्गीपालन

परिचय

भारत तथा इसके पड़ोसी देश ही आज के घरेलू मुर्गे-मुर्गियों के आनुवंशिक घर हैं। भोजन और खेल, दोनों की दृष्टियों से ही प्राचीन मानव इनके प्रति आकर्षित हुआ था। कुक्कुट युद्ध का प्रचलन तो भारत में ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भी था।

मुर्गीपालन पक्षियों में अनेक प्रकार के पक्षी तथा चूजे, बतखें, हंस, टर्की और गिनी कुक्कुट होते हैं। भारत में, इन पक्षियों में से, चूजा अथवा घरेलू कुक्कुट ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में मुर्गीपालन का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कृषक के लिए शीघ्र आय का साधन है। मांस व अण्डों के अतिरिक्त मुर्गीपालन से पंख और बढ़िया किस्म की खाद भी उपलब्ध होती है। मुर्गियों पर, प्रारम्भ में इन्हें खरीदने और रखने में बहुत कम खर्च होता है। यह खर्च औसत किसान की सामर्थ्य के भीतर है।

लोगों को अधिक पौष्टिक खाद्य उपलब्ध कराने की दृष्टि से मुर्गीपालन का महत्व अत्यधिक है। अण्डे और मुर्गियों का मांस प्रोटीन तथा विटामिनों का बहुत बढ़िया स्त्रोत है। औसत भारतीय की खुराक में इन दोनों तत्वों की बहुत कमी रहती है। मुर्गीपालन ही सस्ता और शीघ्रता से अपनाया जा सकने वाला साधन है जिससे ऊंची बढ़िया किस्म की प्रोटीन का उत्पादन देश में तेजी से बढ़ाया जा सकता है।

भारत में मुर्गीपालन की वर्तमान स्थिति

भारत में 1966 में बतखों सहित कुल मिलाकर 11 करोड़ 54 लाख 50 हजार मुर्गीपालन पक्षी थे। 1977 में यह संख्या बढ़कर 16 करोड़ 8 लाख 70 हजार तथा 1982 में 20 करोड़ 77 लाख 40 हजार हो गयी।

खाद्य एवं कृषि संस्थान के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार 1991 में भारत में चूजों की संख्या 38 करोड़ थी तथा समस्त विश्व में इनकी कुल संख्या 1,103 करोड़ 40 लाख थी। विश्व में चूजों की अधिकतम संख्या चीन में पायी जाती है, जो 207 करोड़ 70 लाख है।

1982 की पशुधन गणना के अनुसार 20 करोड़ 77 लाख 40 हजार मुर्गीपालन पक्षी थे। इसमें 1977 की संख्या से 29.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1982 में मुर्गों की संख्या 18 करोड 5 लाख थी जिनमें से अनुमान था कि 4 करोड़ 10 लाख सुधरी प्रजाति के थे।

वार्षिक अण्डा उत्पादन, 1980-81 में 1 हजार करोड़ था जब कि वह बढ़कर 1991 में 2 हजार करोड़ हो गया। 1991 में मुर्गीपालन से प्राप्त मांस तथा गाद का अनुमानित वार्षिक उत्पादन क्रमश: 328 करोड़ 20 लाख टन व 42 लाख 29 हजार टन है।

औसत भारतीय मुर्गी में प्रतिवर्ष 60 अण्डे देने की क्षमता है। **ह्वाइट लैगहॉर्न** और **रोड**

आइलैंड रेड आदि अमेरिकी नस्लों की मुर्गियां प्रतिवर्ष औसतन 193 व 212 अण्डे देती हैं। भारतीय मुर्गी के अण्डे का आकार भी बहुत छोटा होता है। इसका औसतन आकार **रोड आइलैंड रेड** और **ब्लेक मिनोरसा** आदि विदेशी नस्लों की मुर्गियों के अण्डों के आकार के आधे से कुछ ही अधिक होता है।

अभी तक तो मुर्गीपालन भारत में मुख्य रूप से ग्रामीण कुटीर उद्योग ही रहा है। गांवों में पायी जाने वाली सामान्य मुर्गियों का, बावजूद इसके कि उनकी देखभाल अच्छी तरह से नहीं की जाती और न ही उन पर अधिक ध्यान ही दिया जाता है, किसान की घरेलू वस्तुओं में महत्वपूर्ण स्थान है। इन मुर्गियों की उत्पादन क्षमता भी बहुत कम होती है।इस ढांचे में अब परिवर्तन हो रहा है, क्योंकि अब अनेक संगठित मुर्गीपालन केंद्र वैज्ञानिक पद्धति से चल रहे हैं।

मुर्गीपालन पक्षियों की प्रमुख नस्लें

भारत में अधिकांश घरेलू मुर्गियों की कोई विशेष नस्ल नहीं है। सामान्यत: सभी भारतीय मुर्गे-मुर्गियों को 'देसी' नाम दे दिया जाता है। सुधरी नस्ल की मुर्गियों की संख्या भारत में बहुत कम है। ऐसा अनुमान है कि देश की कुल मुर्गियों में से केवल 5.16 प्रतिशत मुर्गियां ही सुधरी हुई नस्ल की हैं।

सामान्य देसी मुर्गियों में रंग, आकार और रूप की दृष्टि से काफी भिन्नता होती है। सामान्यत: देसी मुर्गियां छोटी, धीमी गति से बढ़ने वाली और थोड़ी मात्रा में छोटे आकार के अण्डे देने वाली होती हैं। तथापि ये आदर्श माताएं होती हैं। ये अण्डों को बहुत अच्छी तरह से सेती हैं। जड़ों तथा वनस्पतियों आदि पर खूब अच्छी तरह से रह लेती हैं। ये काफी कठोर परिस्थितियां सहने में समर्थ होती हैं। सामान्य रोगों से बचे रहने की इनमें स्वाभाविक क्षमता होती है।

देसी नस्लों में से थोड़ी-बहुत विशुद्ध नस्लें होती हैं—**असील, चिटगांव,** और **घाघूस।**

असील : मुर्गियों की देसी नस्लों में असील नस्ल सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस नस्ल की मुर्गी अपने लड़ाकू गुणों के कारण विख्यात है। खाने के लिए इसका मांस बहुत अच्छा माना जाता है। इसमें मांस काफी होता है। वह स्वादिष्ट भी बड़ा होता है तथा उसमें से विशेष प्रकार की सुन्दर गन्ध निकलती है। हां, ये मुर्गियां अण्डे बहुत कम देती हैं।

असील मुर्गियां लगभग सारे देश में ही पायी जाती हैं। परन्तु इनके सबसे बढ़िया नमूने आंध्रप्रदेश में हैदराबाद के निकटवर्ती भागों में तथा उत्तरप्रदेश के लखनऊ और रामपुर जिलों में पाये जाते हैं।

असील काफी बड़े आकार की सुन्दर मुर्गी है। इसका कोई सामान्य मानक रंग नहीं है। इसकी कलगी बहुत छोटी होती है। यह अलग अलग किस्मों की होती है। इसका मुख अपेक्षतया लम्बा होता है। असील की मुर्गदाढ़ी (वैटल) हल्की होती है और प्राय: दिखायी नहीं देती। इसके कानों का निचला भाग बहुत छोटा होता है। गर्दन पर बहुत कम मात्रा

में बाल होते हैं। पंख इसके कुछ गुदगुदे तथा कठोर होते हैं। दुम इसकी छोटी तथा जमीन से कुछ सेण्टीमीटर ऊपर लटकी होती है। इस जाति के मुर्गों का मानक वजन 4.5 किलोग्राम और मुर्गियों का मानक वजन 3.5 किलोग्राम होता है।

चिटगांव : इस नस्ल की मुर्गियों का नाम उस जिले के नाम पर रखा गया है जहां पर कि ये मुख्य रूप से पाली जाती हैं। ये मुर्गियां बड़ी तेजी से बढ़ती हैं। मांस के लिए ये विशेष रूप से उपयुक्त मानी गयी हैं। इनके पंखों का भी कोई मानक रंग नहीं होता, परन्तु सुनहरी और हल्का पीला रंग ही अधिक पाया जाता है। इनकी कलगी इकहरी और छोटी होती है। कानों के निचले भाग छोटे होते हैं और दाढ़ी छोटी और लाल रंग की होती है। गर्दन लम्बी तथा शरीर की ऊंचाई को देखते हुए अपेक्षतया छोटी होती है। टांगें इनकी लम्बी और काफी मोटी होती हैं। घुटने से लेकर पांव तक टांगें पीले रंग की होती हैं। उसमें पंख नहीं होते। छाती की हड्डी पर पंख बहुत कम होते हैं। पंख कन्धों पर आगे निकले हुए और ऊंचे उठे हुए होते हैं। मुर्गे का औसत वजन लगभग 4.5 किलोग्राम तथा मुर्गी का 2.5 से 4 किलोग्राम तक होता है।

घाघूस : बड़े आकार वाली और कठोर परिस्थितियां सह लेने वाली मुर्गियों की नस्ल है। इस नस्ल की मुर्गे-मुर्गियां खाने के लिए बहुत उपयुक्त रहती हैं। इस नस्ल की मुर्गी अण्डे भी काफी संख्या में देती है। यह बड़ी कुशल माता होती है। अण्डों को अच्छी तरह सेती है। आन्ध्रप्रदेश और मैसूर राज्यों के कुछ भागों में घुमन्तू लोगों में इस नस्ल की सर्वोत्तम मुर्गियां मिलती हैं। घाघूस नस्ल की मुर्गी के छोटी, इकहरी और मटर के आकार की कलगी होती है। इसकी दाढ़ी और कानों के निचले भाग छोटे होते हैं। गला ढीलाढाला और भारी होता है। टांगें अपेक्षतया लम्बी, सीधी और मजबूत होती हैं। पंखों का रंग प्राय: लाल बादामी, काला और धूसर होता है।

सफलतापूर्वक भारत की जलवायु के अनुकूल बना दी गईं मुर्गियों की विदेशी नस्लें हैं: **व्हाइट लैगहॉर्न, रोड आइलैण्ड रेड** और **ब्लैक मिनोरिसा।** अन्य नस्लें, जिनका भारत में प्रचलन किया गया है, हैं: **प्लाइमाउथ रॉक, एस्ट्रालोय, लाइट सुसेक्स, न्यू हैम्पशॉयर, व्हाइट रॉक** और **व्हाइट कार्निश।** देसी मुर्गियों की नस्ल सुधारने के लिए इन नस्लों का खूब प्रयोग हो रहा है।

व्हाइट लैगहॉर्न : मुर्गियों की अण्डे देने वाली नस्लों में विश्व भर में सबसे अधिक लोकप्रिय है। यह मुर्गी अण्डे तो खूब देती है परन्तु खाने के लिए इसे अधिक अच्छा नहीं समझा जाता। भारत में विशेष रूप से सूखे भागों में तो व्हाइट लैगहॉर्न बहुत ही उपयुक्त सिद्ध हुई है। भारी अथवा गीली धरती पर और पर्वतीय क्षेत्र इसके लिए अनुकूल नहीं रहते। इस नस्ल के मुर्गे का मानक वजन 2.7 किलोग्राम और मुर्गी का वजन 2 किलोग्राम है।

रोड आइलैंड रेड : मुर्गियों की समग्र रूप से श्रेष्ठतम मानी जा सकने वाली नस्लों में से है। इस मुर्गी से पर्याप्त मात्रा में मांस पैदा होता है और वह अच्छी किस्म का होता है। यह अण्डे भी खूब देती है। इसके अण्डों का खोल बादामी रंग का होता है। अण्डों का आकार बड़ा होता है। भारत में प्रचलित की जाने वाली विदेशी नस्लों में रोड आइलैण्ड

रेड नस्ल सबसे अधिक लोकप्रिय है। अन्य सभी नस्लों की मुर्गियों की तुलना में इस नस्ल की मुर्गियां सबसे कठिन परिस्थितियां व कठोरता सह सकती हैं। ये ठण्डे, नम और अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में कठोरतम जलवायु को सह सकती हैं। मुर्गे का मानक वजन 3.8 किलोग्राम और मुर्गी का मानक वजन 3 किलोग्राम होता है।

ब्लैक मिनोरसा : इस नस्ल की मुर्गियां अन्य भूमध्यरेखीय नस्लों की मुर्गियों से बड़ी होती हैं। ये अपेक्षतया बड़े आकार के सफेद अण्डों के लिए विख्यात हैं। उत्पादन की कमी के कारण भारत में इस नस्ल की लोकप्रियता कम हो रही है। मुर्गे का मानक वजन 3.6 किलोग्राम और मुर्गी का 3 किलोग्राम होता है।

प्लाइमाउथ रॉक : लोकप्रिय अमेरिकी नस्ल है। इस नस्ल की मुर्गियों का आकार अच्छा खासा होता है। मांस भी इनका बहुत ही उम्दा किस्म का होता है और ये अण्डे भी काफी संख्या में देती हैं। भारत में तो इस नस्ल के मुर्गे देसी मुर्गियों की नस्ल सुधारने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। मुर्गे का मानक वजन 4.2 किलोग्राम होता है।

एस्ट्रालोय : इस नस्ल का आस्ट्रेलिया में बहुत अधिक विकास किया गया है। यह नस्ल सब दृष्टियों से अच्छी मानी जाती है। भारत में इस नस्ल की लोकप्रियता बड़ी तेजी से बढ़ रही है। आर्द्र और अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में तो यह नस्ल विशेष रूप से लोकप्रिय है। इस नस्ल के मुर्गे का मानक वजन 3.8 किलोग्राम और मुर्गी का 3 किलोग्राम होता है।

लाइट मुसेक्स : मुख्य रूप से मांस देने वाली नस्ल है परन्तु इससे कुछ ऐसी नस्लें भी विकसित की गयी हैं जिनकी मुर्गियां अण्डे भी काफी संख्या में देती हैं। इस नस्ल के मुर्गे का मानक वजन 4 किलोग्राम और मुर्गी का 3.2 किलोग्राम होता है।

न्यू हैम्पशॉयर : अमेरिका में विकसित की जाने वाली अपेक्षतया एक नयी नस्ल है। भारत में इसका प्रचलन हाल ही में प्रारम्भ हुआ है। इस नस्ल की मुर्गियां कठिन स्थिति सहने की अपनी क्षमता के कारण विख्यात हैं। इस नस्ल की मुर्गियां बड़े और भूरे रंग के खोल वाले अण्डे काफी संख्या में देती हैं। मुर्गे का मानक वजन 3.8 किलोग्राम और मुर्गी का 2.7 किलोग्राम होता है।

व्हाइट रॉक और व्हाइट कार्निश : ये नस्लें भी भारत में बड़ी तेजी से लोकप्रिय हो रही हैं। ये नस्लें मांस के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत में भूनने के लिए उपयुक्त चूजों के उत्पादन की दिशा में इनके द्वारा महत्वपूर्ण भाग लिए जाने की आशा है। इन नस्लों के मेल से तैयार की जाने वाली नस्लें भी बड़ी लोकप्रिय हैं। व्हाइट कार्निश नस्ल के मुर्गे का मानक वजन 3.6 किलोग्राम और मुर्गी का 2.7 किलोग्राम होता है।

नस्ल का चयन

ऐसा कहा जाता है कि मुर्गीपालन एक ऐसा व्यवसाय है जिसे सबसे कम समय में शुरू किया जा सकता है। परन्तु इस व्यवसाय को छोड़ने के लिए व्यक्ति इतनी शीघ्रता से बाध्य हो जाता है। इस काम में सफलता के लिए यह बहुत आवश्यक है कि स्थानीय परिस्थितियों

तथा बाजार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बड़ी सावधानी से उचित नस्ल की मुर्गियों को खरीदा जाये। अण्डों के उत्पादन और मांस के लिए चूजों की अलग अलग नस्लें विकसित कर ली गयी हैं। इसलिए पालने के लिए ठीक किस्म के चूजों का चयन करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक ही नस्ल के चूजों में बढ़ने की दर और अण्डों के उत्पादन की क्षमताएं एक दूसरे से भिन्न होती हैं। यदि खाने के काम आने वाले अण्डों के उत्पादन के लिए मुर्गीपालन केन्द्र खोले जाने का विचार हो तो इसमें ऐसे चूजे रखे जाने चाहिएं जिनमें अधिक अण्डे देने का गुण हो। अधिक अण्डे देनेवाली नस्लों की मुर्गियों को पालना लाभदायक रहता है। इसके विपरीत ऐसी नस्लें, जिनकी मुर्गियों में इच्छित अनुकूल विशेषताएं नहीं होंगी, निराशा का कारण ही बनेंगी। अधिक अण्डे न देनेवाली मुर्गियां दाने का अधिकांश भाग तो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ही इस्तेमाल कर लेती हैं। व्यापारिक दृष्टि से अण्डों के उत्पादन के लिए पहले से चुनी व्हाइट लैगहॉर्न नस्ल की मुर्गियों के मेल से प्राप्त संकर चूजों को अधिक उपयुक्त माना जाता है।

यदि मुर्गी मांस उद्योग के लिए पक्षी पैदा करने की योजना हो तो तेजी से बढ़ने वाले चूजों को ही चुना जाना चाहिए। धीमी गति से बढ़ने वाले चूजों की अपेक्षा ऐसे चूजे अपने शरीर को बढ़ाने के लिए खुराक का अधिक अच्छा इस्तेमाल करेंगे। भूनने के लिए उपयोगी चूजों के बड़ी संख्या में उत्पादन के लिए व्हाइट कार्निश नस्ल के चुने हुए मुर्गों को व्हाइट प्लाइमाउथ रॉक अथवा न्यू हैम्पशॉयर नस्ल की मुर्गियों के मेल से पैदा वर्णसंकर चूजों को लेना चाहिए। /

व्यापारिक दृष्टि से सफलता के लिए सबसे सुरक्षित और कम खर्चीला मार्ग तो यही है कि केवल एक अथवा अधिक से अधिक दो चुनी हुई नस्लें रखी जायें। अनेक नस्लों को पालने की बजाय कुछ नस्लों पर विशेष ध्यान देना अच्छा रहता है। नस्लों की संख्या कम होने से मुर्गियों के पालन पोषण की समस्याएं सरल हो जाती हैं।

मुर्गियों की छंटनी

मुर्गीपालन में सफलता केवल इसी पर निर्भर नहीं करती कि शुरू में अच्छी मुर्गियां ली जायें। सफलता प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि निरन्तर छंटनी की जाती रहे ताकि उत्पादन ठीक होता रहे। चयन और छंटनी, ये दोनों ही कार्य, मुर्गियों के प्रबन्ध की दृष्टि से बराबर के महत्व के हैं। हर मुर्गीपालन केन्द्र पर निरन्तर छंटनी की जाती रहनी चाहिए।

भद्दे आकार की कम मांसवाली पूरी तरह विकसित न हुए मुर्गे-मुर्गियों तथा निर्बल एवं कम पंखोंवाले पक्षियों की छंटनी कर देनी चाहिए। बड़ी बड़ी चमकीली आंखों, मजबूत चोंच, चौड़ा माथा, चमकीली पीली पिण्डलियों, चमकीले पंख और मांसलता से मुर्गों के स्वस्थ व शक्तिशाली होने का पता चलता है। अण्डे देने के मौसम के प्रारम्भ में ही अधिक अण्डे न देनेवाली मुर्गियों की छंटनी कर देनी चाहिए। इससे इनकी संख्या अधिक न बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त जिन मुर्गियों ने थोड़े समय के लिए तो काफी अण्डे दिये हों परन्तु किसी कारणवश बाद में अण्डे देना बन्द कर दिए हों, उन्हें भी अलग कर दिया जाना चाहिए।

मुर्गीपालन की प्रणालियां

भारत में मुर्गीपालन की दो प्रणालियां ही मुख्य रूप से प्रयोग में लायी जाती हैं। इनमें से एक है अर्ध श्रमप्रधान प्रणाली और दूसरी है श्रमप्रधान प्रणाली।

अर्ध श्रमप्रधान प्रणाली में चूजों को दिन के समय खुले अहाते में छोड़ दिया जाता है। रात को उन्हें किसी मकान अथवा पिंजरे में बन्द कर दिया जाता है। गांवों में तो यही प्रणाली सुविधाजनक रहती है। खुले अहाते में मुर्गियों को पर्याप्त धूप और ताजी हवा मिलती है। बिना किसी बाधा के उनका व्यायाम हो जाता है। घास फूस और कीट सरलता से उन्हें मिल जाते हैं। यही वस्तुएं उनका सामान्य भोजन भी हैं।

मुर्गियों को आराम से रखने के लिए और अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए इनके सोने के लिए पर्याप्त स्थान की व्यवस्था की जानी चाहिए। मुर्गियों में शरीर का तापमान नियन्त्रित करने के लिए पसीना निकालने वाली ग्रन्थियां नहीं होतीं। कठोर गर्मी व कठोर सर्दी में यदि इनके आवास की ठीक व्यवस्था न की जाये और विशेष सावधानी न बरती जाये तो मुर्गियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता है। मुर्गियों के लिए अच्छा आवास वही है जिसमें कम व्यय हो तथा ये सुविधापूर्वक बिना किसी खतरे के रह सकें।

अर्ध श्रमप्रधान प्रणाली से 50 मुर्गियों को रखने के लिए 230 वर्गमीटर क्षेत्रफल की आवश्यकता होती है। उपयुक्त आकार का एक शैड अहाते में बना लिया जाना चाहिए। चारे के लिए कुप्पीनुमा यन्त्र, सन्दूकनुमा घोंसले, जल के लिए बर्तन तथा रात को मुर्गे-मुर्गियों को रखने के लिए बने पिंजरे उस शैड में रख दिये जाने चाहिएं। मुर्गियों को तेज हवा से बचाने के लिए तिनकों के अथवा केनवास के कपड़े के परदे बनाये जाते हैं। अहाते में लगे छायादार वृक्ष छाया देने के अतिरिक्त हवा की तेजी कम करने तथा गर्मियों में तापमान कम रखने की दृष्टि से उपयोगी होते हैं। इन वृक्षों को बहुत लम्बा नहीं होने देना चाहिए। उन्हें अच्छी तरह से काटते रहना चाहिए ताकि जाली के ऊपरी भाग को हानि न पहुंचे। धरती से आठ सेण्टीमीटर ऊंचाई तक की सभी शाखाएं काट देनी चाहिएं। [इससे वृक्षों के नीचे मुर्गियों को खुला स्थान उपलब्ध हो जाएगा और नमी से बचाव होगा।] उस स्थान की सफाई करने में भी सुविधा होगी। शहतूत और नींबू के पेड़ इस दृष्टि से उपयुक्त माने जाते हैं। गर्मियों के महीनों में उनकी बढ़िया छायादार छतरी होती है। सर्दियों में इन वृक्षों को काट छांट दिया जाना चाहिए ताकि अहाते में पर्याप्त धूप आ सके।

अहाते में पर्याप्त संख्या में घोंसले होने चाहिएं ताकि मुर्गियां वहां अण्डे दे सकें। इन घोंसलों को छप्परों के नीचे रखा जाना चाहिए। उन्हें एक ओर अन्धेरे कोने में रख देना अधिक अच्छा रहता है। वहां अण्डा देने वाली मुर्गियों को कोई परेशान नहीं करता। खुले अहाते में अण्डे प्राय: वर्षा में टूट जाते हैं अथवा गन्दे हो जाते हैं।

मुर्गीपालन केन्द्र मध्यम दर्जे की धरती पर ही बनाना अधिक अच्छा रहता है। यह भूमि ऐसी होनी चाहिए जहां पर हरी वनस्पतियां भी पैदा की जा सकें। मुर्गीपालन केन्द्र के लिए भारी मिट्टी वाली जमीन अधिक उपयुक्त नहीं रहती। धरती आर्द्रतारहित होनी चाहिए।

बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए अधिक संख्या में मुर्गियां रखने के लिए श्रमप्रधान प्रणाली को अधिक उपयुक्त समझा जाता है। श्रमप्रधान प्रणाली में मुर्गियों को कमरे में अथवा छप्पर के नीचे काफी घासफूस डालकर रखा जाता है अथवा इन्हें अलग अलग पिंजरों में रखा जाता है।

तैयार बिछाली प्रणाली में मुर्गियों को विशेष रूप से बनाये गये आवास के फर्श पर घासफूस की एक मोटी तह डालकर रखा जाता है। तैयार बिछाली का अर्थ यह नहीं कि मुर्गियों को ऐसे स्थान पर रखा जाये जहां पूरी सफाई न हो। मुर्गियों की बिछाली के लिए इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री और उनकी विष्टा को बैक्टीरिया तथा अन्य सूक्ष्मजीवी विघटित कर देते हैं। इससे अत्यधिक चूषण शक्तिवाला विघटित कार्बनिक पदार्थ की तरह का एक पदार्थ बन जाता है जो मुर्गियों की प्रजननशक्ति नष्ट कर देता है। कुछ मास बाद मुर्गियों की बिछाली पर जीवाणुओं की अभिक्रिया से प्राणी प्रोटीन फैक्टर, रिबोफ्लेवीन विटामिन तथा अन्य विरल तत्व पैदा होने लगते हैं। अण्डे देने वाली मुर्गियां इन सबको खा लेती हैं। ये अपेक्षतया अधिक अण्डे देने लगती हैं। ये अण्डे सेये भी आसानी से जाते हैं।

इस प्रणाली को अपनाने से भूमि और श्रम पर किये जाने वाले व्यय में काफी बचत होती है। खुराक नष्ट कम होती है तथा शिकारी पक्षियों से चूजों का अधिक बचाव हो जाता है। अण्डों के टूटने अथवा खराबी से होनेवाली हानि भी बहुत कम की जा सकती है। सूखी बिछाली पर अण्डे साफ रहते हैं। इससे अण्डों का मूल्य भी अपेक्षतया अधिक मिलता है।

मोटी गद्देदार बिछाली के लिए इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री कोमल, शुष्क तथा धूल रहित होनी चाहिए। उसमें चूषणशक्ति अधिक होनी चाहिए। वह ना तो इतनी बारीकी से पिसी होनी चाहिए कि वह धूलि के समान हो जाये और न ही उसे इतना मोटा रहने देना चाहिए कि बीट से उसका मिलना कठिन हो जाये। इस उद्देश्य से प्राय: चावल की भूसी, मूंगफली अथवा तिलहन की खली, गेहूं का भूसा, बारीक पिसी अनाज की गुल्ली, चावल के तिनके, गन्ने के तन्तु, लकड़ी का बुरादा तथा लकड़ी की छोटी छोटी कतरनें इस्तेमाल की जाती हैं।

फर्श पर नयी सामग्री बिछाने से पहले सारी पुरानी बिछाली व अन्य सामग्री अच्छी तरह से साफ कर दी जानी चाहिए। फर्श, दीवारें, भीतर रखी वस्तुएं और उपकरण अच्छी तरह से कृमिविहीन किये जाने चाहिएं। फर्श पर 5 से 8 सेण्टीमीटर मोटी तह में सूखी मिट्टी जमा देनी चाहिए। उसे अच्छी तरह दबाया जाना चाहिए। इसके ऊपर किसी उपयुक्त बिछाली सामग्री की आठ से दस सेण्टीमीटर मोटी तह बिछा देनी चाहिए। ग्रीष्म और वर्षा में नयी बिछाली नहीं डालनी चाहिए। हां, कुछ गीले स्थानों की बिछाली को बदला जा सकता है। बिछाली वर्षा से दो मास पूर्व से ही बिछानी शुरू कर दी जानी चाहिए। आर्द्र मौसम में इसे नहीं बिछाना चाहिए। वर्षा ऋतु के पश्चात् बिछाली सामग्री धीरे धीरे डाली जानी चाहिए। नवम्बर के अन्त तक इसकी मोटाई 15 से 20 सेण्टीमीटर तक हो जाए। शीतकाल के सारे महीनों में यही मोटाई बनाये रखी जानी चाहिये। वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में इसे कम करके

8 से 10 सेण्टीमीटर तक कर दिया जाना चाहिए। बिछाली को कभी गीला नहीं होने देना चाहिए। इस प्रणाली की सफलता के लिए बिछाली को सूखा रखना बहुत आवश्यक है। बीट को अच्छी तरह मिलाने के उद्देश्य से बिछाली को प्राय: हिलाते डुलाते रहना चाहिए। इससे बिछाली सूखी रखने और पीड़क जंतुओं को वहां पर ठिकाना बनाने से रोकने में भी मदद मिलेगी।

मोटी बिछाली वाले स्थान को मुर्गियों से भर नहीं देना चाहिए। हल्की नस्ल की सौ मुर्गियां रखने के लिए प्रति मुर्गी के हिसाब से 28 वर्ग डेसीमीटर फर्श की न्यूनतम आवश्यकता होती है। भारी नस्ल के जीवों के लिए प्रति जीव 23 वर्ग डेसीमीटर स्थान होना चाहिए।

मोटी बिछाली वाले आवास में हवा के आने जाने के लिए पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। इससे मुर्गियां आराम महसूस करती हैं। उत्पादन भी बढ़ता है। यह आवास सभी तरफ से खुला रखा जाना चाहिए। फर्श से 60 से 75 सेण्टीमीटर की ऊंचाई पर ही तार जाली लगायी जानी चाहिए। कठोर शीत में कैनवस अथवा बोरियों के कपड़े से खुली तरफ बन्द करके मुर्गियों को गरम रखा जा सकता है।

बड़े नगरों में जहां स्थान बहुत कम होता है, श्रमप्रधान प्रणाली में अण्डे देने के स्थानों की भी व्यवस्था होती है। अण्डे देने की 'बैट्री' उन पिंजरों का संग्रह होता है जिनका उपयोग अण्डा देनेवाली मुर्गियों के आवास के लिए किया जाता है। पिंजरे प्राय: पंक्तियों में बनाये जाते हैं। एक पंक्ति के ऊपर पिंजरों की दूसरी पंक्ति होती है। जालियों से बने ये पिंजरे धातुनिर्मित चौखटे पर आधारित होते हैं। अण्डा देने वाली मुर्गियों को अलग अलग रखा जाता है। एक पिंजरे में एक मुर्गी ही रखी जाती है। दिन और रात निरन्तर इन्हें इन्हीं पिंजरों में रखा जाता है।

अण्डा देने की बैट्री का ऐसा आकार सुविधाजनक रहता है जिसमें एक चौखटे पर एक पंक्ति में लगभग 7 पिंजरे बनाये होते हैं। इस चौखटे को लोहे की छड़ों से बनाया जा सकता है।

पिंजरे का तला 2.5 सेण्टीमीटर की मैशतारों से बुनी जाली से बना होता है। उसकी मोटाई और मजबूती इतनी होती है कि मुर्गी का वजन वह संभाल लेता है। यह तला एक चौखटे पर बना होता है। अण्डा निकलते ही तुरन्त मुर्गी के नीचे से लुढ़ककर बाहर आ जाये, इसके लिए आवश्यक है कि तले का ढलान नीचे की तरफ हो। पीछे से लेकर सामने तक उसका ढलान आठ से दस सेण्टीमीटर होना चाहिए। सामने से ऊपर की ओर इसे एक वक्र रूप धारण कर लेना चाहिए जिससे कि यह 6 से 8 सेण्टीमीटर ऊंचा प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) बना ले। इसमें अण्डा संभला रहेगा। तले के नीचे जस्तीकृत धातु की एक ट्रे होती है। मुर्गी की बीट इसमें पड़ती रहती है। यह ट्रे चौखटे पर रखी होती है।

पिंजरों की पंक्तियां एक दूसरे के ऊपर होती हैं। ऊपरी पंक्ति के पिंजरे में विष्टा के लिए रखी ट्रे निचली पंक्ति के उसी क्रम में रखे पिंजरे के लिए छत का काम भी देती है।

अधिकांशत: पिंजरे के सामने की जगह खाने की वस्तुओं और जल बर्तनों से भरी रहती है। जल के बर्तन को मैश हॉपर के ऊपर रख दिया जाता है। ये बर्तन चौखटे से जुड़ी

चपटे लोहे की पंक्तियों के वक्र प्रक्षेपणों अथवा अनुप्रस्थ छड़ों पर आधारित होते हैं। इन छड़ों को ऐसे अन्तर से लगाना चाहिए कि तारों वाले जालीदार फर्श तथा मैश हॉपर की निचली सतह के बीच 6 से 8 सेण्टीमीटर तक का स्थान रहे ताकि उसमें से अण्डे के लिए मार्ग निकल सके। मैश हॉपर के ऊपरी सिरे तथा जल वाले बर्तन की निचली सतह में 8 से 10 सेण्टीमीटर का स्थान रहना चाहिए ताकि मुर्गी अपना दाना सरलता से ले सके। जल के लिए रखे बर्तन के ऊपर 8 से 10 सेण्टीमीटर का स्थान खाली रख देना चाहिए ताकि मुर्गी आसानी से जल पी सके। इसके बाद ऊपर वाले स्थान को 1.3 सेण्टीमीटर मैश तारजाली से ढांप दिया जाना चाहिए। जल वाले बर्तन तथा मैश हॉपर को प्रत्येक पिंजरे के लिए अलग अलग अथवा सामूहिक रूप से 3 या 4 पिंजरों के लिए लगाया जा सकता है। हर पिंजरे की ऊंचाई 45 सेण्टीमीटर, चौड़ाई 45 सेण्टीमीटर और लम्बाई 35 से 40 सेण्टीमीटर होनी चाहिए।

जल का बर्तन, मैश हॉपर तला और बीट के लिए रखी ट्रे ऐसे लगे होने चाहिएं कि उन्हें हटाया जा सके और बार बार उनकी अच्छी तरह से सफाई की जा सके।

मुर्गियों की खुराक

भारत में तो मुर्गियों को आमतौर पर इधर उधर से खुरचकर खाना ढूंढने के लिए ही छोड़ दिया जाता है। परन्तु अधिक अण्डे अथवा मांस प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि इनकी अच्छी देखभाल की जाये और इन्हें उपयुक्त खाना दिया जाये। कहा जाता है कि मुर्गी तो एक अण्डे से दूसरा अण्डा बनाने की विधि मात्र ही है।

चूजों के पाचन तन्त्र की अपनी विशेष आवश्यकताएं होती हैं। ये प्रायः निरन्तर भूखे ही दिखाई पड़ते हैं और इधर उधर खाने के लिए कुछ पाने को ताकते रहते हैं। दाना सबसे अधिक महंगी वस्तु है। मुर्गीपालन पर होनेवाले कुल खर्चे का आधा तो इनके भोजन पर ही होता है। इसलिए स्पष्ट ही है कि चूजे जिस उद्देश्य के लिए पाले जा रहे हैं, उसको ध्यान में रखते हुए इनके भोजन को बड़ी सावधानी से विचार करके ही चुना जाना चाहिए। जल्दी से बड़ा करने के लिए दी जानेवाली खुराक उस खुराक से भिन्न होती है जो मुर्गियों को मोटा करने अथवा अण्डों के उत्पादन के लिए दी जाती है।

मितव्ययिता से उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि मुर्गियों की पूरी खुराक सन्तुलित राशन की हो। सन्तुलित राशन तैयार करने के लिए अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों को मिलाना आवश्यक होता है। केवल यही पर्याप्त नहीं कि मुर्गियों को सभी पौष्टिक पदार्थ दिये जायें वरन् इन पदार्थों को ठीक और उचित अनुपात में देना भी महत्वपूर्ण है।

यदि चूजों को ज्वार-बाजरा ही दिया जा रहा हो तो इससे कार्बोहाइड्रेटों का अपव्यय होता है। यदि उन्हें मांस के टुकड़े ही दिये जा रहे हों तो उससे प्रोटीन का अपव्यय होता है। इसलिए पौष्टिक पदार्थों में सन्तुलन होना चाहिए ताकि उस खुराक का अण्डा उत्पादन तथा मुर्गियों की शरीर वृद्धि के लिए अच्छे से अच्छा उपयोग हो सके।

मुर्गियों को दी जाने वाली खुराक में मुख्यतः मोटा अनाज, मोटे अनाज के गौण उत्पादन,

पौधों और पशुओं से पैदा होने वाले गौण उत्पादन तथा हरे चारे होते हैं। प्रोटीन भोजन—विशेष रूप से जान्तव प्रोटीन तो महंगे होते हैं। सन्तोषजनक ढंग से अण्डों का उत्पादन तभी हो सकता है यदि जान्तव और वनस्पति प्रोटीनों को मिलाकर खिलाया जाये।

मुर्गियों को दाना देने का आधुनिक तरीका तो यह है कि उन्हें सारी खुराक लेई सी बनाकर दी जाये। अधिक सरल होने के कारण ही यह तरीका व्यापक रूप से अपना लिया गया है। यह खुराक अपने आप में पूरा राशन होती है। इसके साथ अतिरिक्त अनाज खिलाने की आवश्यकता नहीं रहती।

अण्डा देने वाली मुर्गियों के लिए सन्तोषजनक खाद्य पदार्थ को मक्का, ज्वार, बाजरा अथवा अन्य मोटे अनाज अथवा अनाज मिश्रण के 30 भाग, चावल पालिश के 20 भाग, जौ अथवा जई के 10 भाग, गेहूं चोकर के 10 भाग, तेल निकाली मूंगफली के छिलके 15 भाग, अनाज ग्लूटेन (गोघूप तार) चूर्ण के 4.5 भाग, वाष्पित मछली चूर्ण के 4 भाग, वाष्पित मांस चूर्ण के 3 भाग, वाष्पित अस्थि चूर्ण का 1 भाग, कैल्शियम चूर्ण के 2 भाग, नमक के 0.5 भाग मिलाकर तैयार किया जा सकता है। इस मैश के 100 किलोग्राम में 4.4 ग्राम विटामिन 'ए', 0.5 ग्राम विटामिन 'बी', 0.6 ग्राम विटामिन 'डी' और 22 ग्राम मैंगनीज सल्फेट मिला दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त मुर्गियों को पर्याप्त मात्रा में हरा चारा भी दिया जाना चाहिए।

अण्डों से निकलने के 36 घण्टे बाद तक चूज़ों को किसी भी प्रकार के भोजन की आवश्यकता नहीं होती। इस अवधि में चूज़ों के साथ अण्डे से बाहर निकले पदार्थ ही खाने के लिए उपयुक्त भोजन होते हैं। अण्डे देनेवाली किस्म के बढ़ रहे चूज़ों के लिए उपयुक्त राशन बनाने के लिए 28 भाग पीली ज्वार, बाजरा, अथवा अन्य कोई मोटा अनाज, 26 भाग चावल पालिश, 7 भाग जौ अथवा जई, 7 भाग गेहूं का चोकर, 16 भाग छिलका उतरी मूंगफली की खल, 5 भाग अनाज ग्लूटेन चूर्ण, 5 भाग वाष्पित मछली चूर्ण, 3 भाग वाष्पित मांस चूर्ण, 1 भाग वाष्पित अस्थि चूर्ण, 1.5 भाग कैल्शियम चूर्ण और 0.5 भाग नमक मिलाना चाहिए। ऐसे 100 किलोग्राम मिश्रण में 2.2 ग्राम विटामिन 'ए', 0.5 विटामिन 'बी', 0.3 ग्राम विटामिन 'डी' और 22 ग्राम मैंगनीज सल्फेट मिला दिया जाना चाहिए। एक सप्ताह पश्चात् हरी वनस्पतियां पर्याप्त मात्रा में दी जानी चाहिएं।

भूनने के काम आनेवाली मुर्गियों के लिए उपयुक्त राशन तैयार करने के लिए 20 भाग पीला मक्का अथवा अन्य कोई मोटा अनाज, 28 भाग चावल पालिश, 7 भाग जौ अथवा जई, 7 भाग गेहूं का चोकर, 20 भाग छिलका उतरी मूंगफली की खल, 5 भाग अनाज ग्लूटेन चूर्ण, 4 भाग वाष्पित मछली चूर्ण, 3 भाग वाष्पित मांस चूर्ण, 1 भाग वाष्पित अस्थि चूर्ण, 1.5 भाग कैल्शियम चूर्ण, 0.5 भाग नमक मिलाया जाना चाहिए। इस मिश्रण के 100 किलोग्राम में 2.2 ग्राम विटामिन 'ए', 0.5 ग्राम विटामिन 'बी', 0.3 ग्राम विटामिन 'डी' और 22 ग्राम मैंगनीज सल्फेट मिलाये जाने चाहिएं। चूज़ा एक सप्ताह का हो जाने के पश्चात् उसे पर्याप्त मात्रा में हरी वनस्पतियां दी जानी चाहिएं।

अपेक्षतया भारी नस्लों के चूज़ों को अधिक मात्रा में और हल्की नस्लों के चूज़ों को कम मात्रा में दाने की आवश्यकता होगी। औसतन 4 सप्ताह की उम्र तक के 100 चूज़ों को प्रतिदिन

56 किलोग्राम खाद्य मिश्रण की आवश्यकता होती है। 20 से 24 सप्ताह तक की आयु के चूजों के लिए 900 किलोग्राम मिश्रण पर्याप्त रहता है। मुर्गियों को खिलाने के लिए आटे की तरह महीन गुंथी लेई की तुलना में दानेदार लेई अधिक उपयुक्त रहती है।

चूजों की जल सम्बन्धी आवश्यकताएं

मुर्गे मुर्गियों को स्वस्थ रखने के लिए और उनसे अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए हर समय पर्याप्त जल की व्यवस्था रहनी चाहिए। मुर्गियों में शरीर के वजन का लगभग 60 प्रतिशत और अण्डे में दो तिहाई वजन जल का होता है। चूजे भोजन न मिलने पर जितनी देर जीवित रह सकते हैं, जल न मिलने पर उससे कम समय तक ही। चूजों को निरन्तर पानी उपलब्ध रहना चाहिए क्योंकि एक बार में ये बहुत थोड़ी मात्रा में ही जल पीते हैं। चूजे हर पन्द्रहवें या बीसवें मिनट बाद जल पीते हैं।

चार सप्ताह तक की उम्र के 100 चूजों के लिए प्रतिदिन 6 से 7 लिटर जल की आवश्यकता होती है। 4 से 8 सप्ताह तक की उम्र के 100 चूजों को 9 से 12 लिटर जल की और अण्डा देनेवाली 100 मुर्गियों को 20 से 25 लिटर जल की आवश्यकता होती है।

अण्डे सेना

भारत में मुर्गियां प्राय: कम संख्या में ही रखी जाती हैं। इसलिए प्राय: मुर्गियां ही अण्डे सेती हैं। सेनेवाली मुर्गी 20 से लेकर 21 दिन तक अण्डे पर बैठती है और विकसित होते भ्रूण के लिए आवश्यक गर्मी प्रदान करती है। इस अवधि के पश्चात् अण्डे के भीतर से चूजा अपनी चोंच से खोल को तोड़कर बाहर आ जाता है।

सफलतापूर्वक सेने के लिए यह आवश्यक है कि मुर्गे को मुर्गियों के साथ रखने के 7 से लेकर 10 दिन के भीतर अण्डों को इकट्ठा कर लिया जाये। प्रजनन-पेन से मुर्गे को हटा लेने के एक सप्ताह बाद तक मुर्गियां उर्वर अण्डे देती रहती हैं। सेने के लिए गर्मियों में तो 5 दिन से अधिक पुराने और सर्दियों में 10 दिन से अधिक पुराने अण्डे नहीं रखे जाने चाहिएं। सेने के लिए रखने के पूर्व गन्दे अण्डों को धोया नहीं जाना चाहिए। धोने से खोल के छिद्र खुल जाते हैं और इससे वे ठीक प्रकार से सेये नहीं जाते। बहुत गन्दे अण्डों को सेने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिए।

सेने के लिए चुनी गयी मुर्गी स्वस्थ, शक्तिशाली और सेने के रुझानवाली होनी चाहिए। मुर्गी को बड़े ही कोमल घोंसले में बिठाया जाना चाहिए जो बड़े उम्दा ढंग से तिनकों अथवा सूखे पत्तों से कोलाहलरहित अंधेरे कोने में बनाया जाना चाहिए। घोंसले को धरती के निकट ही रखना चाहिए ताकि मुर्गी बिना किसी कठिनाई के भीतर बाहर आ जा सके। सेने के दौरान मुर्गी को अनावश्यक रूप से परेशान नहीं किया जाना चाहिए। मुर्गी को प्रतिदिन कुछ समय तक के लिए अण्डों से बड़ी कोमलता से हटा लेना चाहिए ताकि यह खाना खा ले और जल पी ले। सेनेवाली मुर्गी को प्रतिदिन दो बार जल मिलना चाहिए और साबुत अनाज व

चूने के पत्थर के छोटे छोटे कंकर पर्याप्त मात्रा में मिलने चाहिएं। गीला और मिट्टी से भरा दाना इन्हें नहीं दिया जाना चाहिए। इससे मुर्गियों को पतली बीट आने लगती है जिसके परिणामस्वरूप अण्डे खराब व गंदले होते हैं।

कुछ समय से इंक्यूबेटरों में कृत्रिम ढंग से अण्डे सेना भी भारत में लोकप्रिय हो चला है। अण्डा सेने की कृत्रिम विधि कम खर्चीली है, विशेष रूप से जहां अधिक संख्या में अण्डों को सेया जाना हो। इसमें श्रम कम करना पड़ता है और जितने अण्डों को सेने की आवश्यकता होती है, उतने अण्डों को सेय लिया जाता है।

इंक्यूबेटर पच्चीस अण्डे रखे जा सकने वाले से लेकर इतने बड़े भी होते हैं कि उनमें सहस्त्रों अण्डे सेये जा सकते हैं। अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए इंक्यूबेटरों को पृथक् कमरे में रखा जाना चाहिए। कमरा खूब हवादार होना चाहिए। कमरे की खिड़कियों पर सूर्य की सीधी किरणें नहीं पड़नी चाहिएं।

सामान्यत: इन छोटे इंक्यूबेटरों में 38.3 से 39.4 दर्जे सेल्सियस (101 से 103 दर्जे फॉरनहीट) तक का तापमान रखा जाता है। यन्त्रचालित इन बड़े इंक्यूबेटरों में तापमान तथा अण्डों को पलटने इत्यादि कार्यों का नियन्त्रण बिजली की जुगतों से होता है। अण्डों में आर्द्रता बिल्कुल ही कम न हो जाये, इसे रोकने के लिए मशीन के भीतर पर्याप्त मात्रा में आर्द्रता रखने की आवश्यकता होती है। 60 से 65 प्रतिशत तक आर्द्रता बनाये रखना सबसे अधिक अच्छा रहता है। शुष्क ऋतु में जल अथवा गीली रेत से भरे विशेष प्रकार के 'ट्रे' के ऊपर इंक्यूबेटरों को रखकर आर्द्रता की मात्रा को अधिक किया जा सकता है।

अट्ठारह दिन से पूर्व, जब तक सेना बिल्कुल पूरा न हो जाये, इंक्यूबेटरों को खोला नहीं जाना चाहिए। सेना पूरा हो जाने के पश्चात् चूजों को मशीन में ले जाया जाता है।

चूजों का पालन

अण्डों को कृत्रिम विधि से सेने की भांति ही चूजों का मुर्गी द्वारा अथवा कृत्रिम रूप से ब्रूडर में पोषण किया जा सकता है। ब्रूडर को प्राय: 'धर्ममाता' भी कहा जाता है। मशीन में पोषण की अवधि एक दिन से लेकर आठ सप्ताह तक है। चूजे के जीवन में यह सबसे नाजुक अवधि है।

प्राकृतिक पालन की श्रेष्ठतम प्रणाली तो यह है कि मुर्गी को एक डिब्बे अथवा पिंजरे में बन्द कर दिया जाये और चूजों को एक छोटे से पृथक् स्थान पर दौड़ने दिया जाये। उनके दौड़ने के इस स्थान को प्रतिदिन पिंजरे के साथ नयी जगह पर ले जाया जाये। सामान्यत: देसी मुर्गियां आदर्श माताएं होती हैं। औसत आकार की मुर्गी बडे मजे में 10 से 15 तक चूजों को पाल सकती है।

कृत्रिम पालन कई दृष्टियों से प्राकृतिक पालन से अच्छा है। कृत्रिम पालन में आवश्यक संख्या में चूजों को वर्ष के किसी भी समय पाला जा सकता है। रोगों, शिकारी पक्षियों एवं उपजीवियों के कारण होनेवाली मृत्यु दर को भी अधिक प्रभावी तरीके से नियन्त्रित किया जा सकता है।

कृत्रिम पालन में एक विशेष प्रकार का उपकरण इस्तेमाल किया जाता है, जिसका नाम 'ब्रूडर' है। 26.7 अथवा 32.2 दर्जे सेल्सियस (80 से 90 दर्जे फॉरनहीट) तक ताप चूज़ों को देना उस समय तक आवश्यक होता है जब तक उनके पंख नहीं निकल आते। प्राकृतिक पोषण में तो मुर्गी अपने शरीर और पंखों से चूज़ों को गर्मी पहुंचाती है।

कृत्रिम पालन में आवश्यक ताप कैरोसीन लैम्प, विद्युत अथवा बैट्रियों द्वारा उपलब्ध करवाया जाता है, यद्यपि अत्यधिक ताप से चूज़ों के अंग शक्तिविहीन हो जाते हैं और उनकी हड्डियों के विकास की बजाय पंख तेजी से बढ़ने लगते हैं।

सामान्य प्रबन्ध

छ: से आठ सप्ताह तक की उम्र के चूज़ों की लैंगिकता का स्पष्ट रूप से संकेत नहीं मिलता। लगभग 8 सप्ताह की उम्र में नर चूज़ों की कलगी दाढ़ी अच्छी बड़ी हो जाती है। मादा पक्षियों में ये बहुत कम उभरती हैं। सामान्यत: मुर्गियों के पंख, विशेष रूप से पीठ पर, अधिक होते हैं। इनकी तुलना में नर चूज़ों के पंख कम होते हैं। हाल ही में जापानी निकास पद्धति द्वारा एक दिन के चूज़ों में लिंग भेद करना सम्भव हो गया है। इसका पता काफी ठीक ठीक चलता है। परन्तु इस विधि को सही सही अपनाने के लिए काफी प्रशिक्षण और अनुभव की आवश्यकता होती है। कुछ समय से चूज़ों का लिंग भेद करने वाले उपकरणों का भी विकास किया जा चुका है। इनसे एक दिन की आयु के चूजे का लिंग भेद किया जा सकता है। एक दिन की आयु के चूजे के लिंग निर्धारण से तुरन्त होने वाला एक लाभ तो यह है कि नर मादा चूज़ों को आरम्भ में ही चुना जा सकता है और उनका व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार उपयोग किया जा सकता है।

अण्डा पैदा करने वाली नस्लों की मुर्गियां प्राय: साढ़े पांच से छ: महीने की उम्र से अण्डे देना शुरू करती हैं। अपेक्षतया वजनी नस्लें 7 से 8 मास तक अण्डे नहीं देतीं। मुर्गियां जब एक वर्ष से अधिक समय तक अण्डे दे चुकती हैं तो अण्डे देने में प्राय: उल्लेखनीय कमी देखी जाती है। इसलिए यह अधिक अच्छा रहता है कि मुर्गियों को प्रतिवर्ष बेच दिया जाये और युवा या कम उम्र की मुर्गियों के नये समूह से काम फिर शुरू किया जाये।

शीत ऋतु में जब दिन का प्रकाश 13 घण्टे से भी कम रहता है, कृत्रिम प्रकाश अण्डे के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए बड़ा उपयोगी पाया गया है। प्रकाश में मुर्गी अधिक भोजन करती है और परिणामस्वरूप अधिक अण्डे देती है।

प्रजनन के लिए औसत परिस्थितियों में प्रत्येक मुर्गे के नीचे 10 से लेकर 12 मुर्गियां तक होनी चाहिएं। छोटी आयु के चूज़ों तथा बड़े मुर्गे-मुर्गियों को इकट्ठे ही नहीं पाला जाना चाहिए। चूजे जब 10 से 14 दिन के हो जाते हैं तो प्राय: उनकी चोंच कुन्द कर दी जाती है ताकि वे इधर उधर चोंच न मार सकें। मुर्गियों को यदि बन्द स्थान पर रखा जाता हो तो ऐसा विशेष रूप से किया जाता है।

सामान्यत: यह माना जाता है कि मुर्गी के अण्डों के लिए मुर्गे की उपस्थिति आवश्यक है। वस्तुत: यह बात सच नहीं है। मुर्गियां मुर्गों की अनुपस्थिति में भी अण्डे देती हैं परन्तु

ऐसे अण्डे अनुर्वर होते हैं। इन्हें प्राय: निरामिष अण्डे कहा जाता है। ऐसे अण्डे सेये तो नहीं जाते परन्तु वे रखे देर तक जा सकते हैं। जब कभी मुर्गे-मुर्गियों, दोनों को अलग रखना सम्भव हो, विशेष रूप से ग्रीष्म ऋतु के महीनों में जबकि अण्डों के सेने की आवश्यकता नहीं होती तो ऐसा किया जाना चाहिए।

अण्डों की किस्म

सामान्य रूप से सभी ताजे अण्डे अच्छी किस्म के होते हैं। जब अण्डा ताजा होता है तो उसके सिरे की तरफ कोई हवा नहीं होती परन्तु ज्यों ज्यों यह ठण्डा होता है तो हवा का यह स्थान बढ़ जाता है। अण्डों की गन्ध कुछ सीमा तक उन्हें खिलाये जाने वाले दाने पर निर्भर करती है। हरे भोजन और पीले मक्के से अच्छे रंग की जर्दी प्राप्त होती है। सामान्यत: गहरे रंग वाली जर्दी में विटामिन अधिक होते हैं और वह पीली जर्दी की तुलना में अधिक अच्छी होती है। नये अण्डे के भीतरी पदार्थ प्राय: सदैव कृमिविहीन होते हैं। कुछ मुर्गियां कभी कभी कृमि संक्रमिक अण्डे अवश्य देती हैं।

अण्डे के खोल के रंग का उसकी किस्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता। खोल का रंग तो मुर्गी की नस्ल पर निर्भर करता है। सामान्यत: लैगहॉर्न मुर्गियां सफेद अण्डे देती हैं। रोड आइलैण्ड रेड नस्ल की मुर्गियों के अण्डों का रंग बादामी होता है।

भिन्न भिन्न नस्लों की मुर्गियों के अण्डों के आकार भी काफी अलग अलग होते हैं, परन्तु एक ही नस्ल की मुर्गियों के अण्डों के आकार भी भिन्न भिन्न हो सकते हैं। सामान्यत: अण्डे का आकार मुर्गी के आकार के अनुरूप ही होता है। जिन मुर्गियों को अच्छा दाना नहीं खिलाया जाता, वे अच्छे आकार के अण्डे नहीं देतीं। अच्छा दाना न दिये जाने पर इनके ऐसे अण्डे होंगे जिनके खोल घटिया किस्म के होते हैं।

अच्छी किस्म बनाये रखने के लिए अण्डों को, घोंसलों से जितनी बार हो सके, इकट्ठा किया जाना चाहिए। उन्हें ठण्डे स्थान पर रखा जाना चाहिए। चूने के पानी में डुबाकर रखे जाने वाले अण्डे अधिक देर तक बने रहते हैं। इसी प्रकार सोडियम और अभ्रक के मिश्रण में रखे गये अण्डे भी काफी अच्छे रहते हैं। जिन अण्डों को उक्त मिश्रण अथवा चूने के पानी में सुरक्षित किया जाना हो, उन्हें धोया नहीं जाना चाहिए। सोडियम-अभ्रक मिश्रण अथवा चूने के पानी में रखे गये अण्डे अनेक मास तक बहुत अच्छी हालत में रहते हैं, यद्यपि यह तभी होता है जब अण्डे ताजे, साफ और अनुर्वर हों। अण्डों को जल में 54.4 दर्जे सेल्सियस (130 दर्जे फॉरनहीट) तापमान पर 15 मिनट तक गरम करने से अनुर्वर किया जा सकता है। इससे भी उनकी अच्छी किस्म रहती है और उनके देर तक बने रहने की क्षमता बढ़ती है। अनुर्वर किये गये अण्डे अधिक अच्छे होते हैं और अधिक समय तक बने रहते हैं। भारत में अण्डा खराब होने का सबसे सामान्य कारण तो यह है कि उनमें, विशेष रूप से उर्वर अण्डों में, गर्मियों के महीनों में भ्रूण पैदा हो जाता है।

अण्डों का पोषण मूल्य

अण्डे मानव को उपलब्ध श्रेष्ठतम संरक्षी खाद्य है क्योंकि यह भोजन उसे स्वयं प्रकृति द्वारा मूल संरक्षित रूप में ही प्राप्त हो जाता है। फॉस्फोरस, लोहा, लाइपिड, फासफोलाइपिड और विटामिन ए बी डी के अत्युत्तम स्त्रोत होने के अतिरिक्त अण्डों में ऐसे प्रोटीन भी काफी मात्रा में होते हैं जो पौष्टिक खाद्य के रूप में बहुत मूल्यवान हैं। अण्डे का लगभग छठा भाग प्रोटीन ही होता है। प्रोटीनों तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों की मात्रा जर्दी और सफेदी वाले भागों में भिन्न भिन्न होती है। जर्दी में कुल वजन का 16 प्रतिशत और सफेदी में वजन का 10 प्रतिशत प्रोटीन होता है।

आवश्यक एमीनो अम्लों के सर्वोत्तम अनुपात में मिले होने के कारण अण्डे की सफेदी और जर्दी में विद्यमान प्रोटीन पौष्टिक पदार्थों की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है। पूरा अण्डा खाने पर अलग अलग प्रोटीन एक दूसरे को बड़े सन्तोषजनक ढंग से पूरित कर देते हैं।

पौष्टिकता की दृष्टि से अण्डों को तैयार करने के अनेक घरेलू तरीकों में बहुत अपव्यय होता है। इन विधियों से विशेष रूप से अण्डे के प्रोटीन का नाश होता है। उबले अण्डे में प्रोटीन नष्ट नहीं होते, जबकि आमलेट तैयार करने में 3 प्रतिशत प्रोटीन की हानि होती है। तलने पर 9 प्रतिशत और मक्खन या दूध के साथ पकाये गये अण्डे में 14 प्रतिशत प्रोटीन की हानि होती है। उबले अण्डे कच्चे अण्डे की तुलना में अधिक आसानी से पचते हैं।

चूजों की बुरी आदतें

उपयुक्त प्रबन्ध व्यवस्था न होने के कारण मुर्गियों में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं। इनमें सबसे सामान्य दोष तो है अन्य चूजों को खा जाना। कम उम्र के चूजों में अन्य चूजों के पांव, कलगी, छिद्रों तथा पंखों पर चोंच मारने की आदत हो जाती है। यह दोष उन मुर्गों में अधिक पाया जाता है जिन्हें अधिक भीड़भाड़ में रखा जाता है, असन्तुलित खाद्य दिया जाता है और पर्याप्त व्यायाम नहीं करवाया जाता। ऐसी बुरी आदतों वाली मुर्गी की चोंच की नोक आमतौर पर कुन्दवा दी जाती है; ऐसी मुर्गियां, जिनकी चोंच की नोक कुन्द कर दी जाती है, भोजन और जल तो ले सकती हैं परन्तु दूसरों को चोंच नहीं मार सकतीं। चोंच मारने से रोकने वाले उपकरण भी बनाये जा चुके हैं।

मुर्गीपालन पक्षियों में एक अन्य सामान्य दोष है पंखों को नोचना। जब किसी मुर्गे या मुर्गी में यह आदत पड़ जाती है तो उसे अपने पंखों पर अथवा अन्य पक्षियों के पंखों पर चोंच मारने से रोकना बहुत कठिन हो जाता है। यह दोष पैदा होने का प्रमुख कारण है ठीक प्रकार का भोजन उपलब्ध न होना, मुर्गियों को भीड़भाड़ में रखना तथा जुंओं के कारण खारिश होना। ऐसा दोष जिन मुर्गियों में हो जाये उन्हें समूह से अलग कर देना चाहिए।

अण्डों को खा जाना एक ऐसा दोष है जिसे दूर करना बहुत ही कठिन है। पक्षियों में यह आदत पड़ जाती है कि वे अपने दिये अण्डों को ही तोड़कर खा जाते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए पर्याप्त संख्या में घोंसले बनाये जाने चाहिएं। अण्डों को अधिक बार बटोर लिया जाना चाहिए। पक्षियों को पर्याप्त मात्रा में हरी वनस्पतियां और चूने के पत्थर

की कंकड़ियां अथवा घोंघे दिये जाने चाहिएं। उनके लिए अधिक स्थान की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस दोष से युक्त मुर्गियों को समूह से हटा दिया जाना चाहिए।

कई समूहों में अनेक मुर्गों में कुछेक मुर्गियों के प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है तथा उनके प्रति प्रेम दिखाने की प्रवृत्ति हो जाती है। वे केवल उन्हीं के साथ मेल करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अन्य मुर्गियां अनुर्वर अण्डे देती हैं। थोड़ी अवधि के बाद मुर्गे बदलकर यह दोष दूर किया जा सकता है।

मुर्गियों के सामान्य रोग

मुर्गीपालन में रोग नियन्त्रण का अत्यधिक महत्व है। मुर्गियों में रोग रोकना बीमारी की चिकित्सा करने की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। मुर्गियों को हमेशा स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रखा जाना चाहिए। नये नये लाये गये पक्षियों को कम से कम दो सप्ताह तक पृथक् रखा जाना चाहिए। कम उम्र के मुर्गे-मुर्गियों को बड़े पक्षियों के साथ मिलने नहीं देना चाहिए। उपकरणों व दाना खिलाने व जल पिलाने के बर्तनों को प्रतिदिन अच्छी तरह साफ किया जाना चाहिए। नमी और भीड़भाड़ से हमेशा ही बचाना चाहिए।

रोगी मुर्गियों के सामान्य लक्षण हैं: भूख का कम होना, सुस्ती, निर्बलता, तापमान का बढ़ना, कलगी व मुर्गादाढ़ी का पीला पड़ना। बीमार पक्षी प्राय: दुबकी मुद्रा में अलग खड़ा हो जाता है। वह निष्क्रिय दिखायी देता है। स्वस्थ चूजे का सामान्य गुदा तापमान 40.5 से लेकर 43 दर्जे सेल्सियस (109.4 दर्जे फॉरनहीट) तक होता है। औसत तापमान 42 दर्जे सेल्सियस (107.16 दर्जे फॉरनहीट) होता है। सामान्य श्वसन गति 15 से 30 तक प्रति मिनट होती है। हृदय धड़कन की औसत गति 300 प्रति मिनट होती है।

मुर्गीपालन पक्षियों पर कृमियों के संक्रमण की विशेष आशंका रहती है। ये कृमि उनके विकास की गति को कम करने के साथ उनकी अण्डा देने की क्षमता भी कम कर देते हैं। जूं, चींचड़ी, मकड़ी और पिस्सू आदि बाहरी उपजीवी मुर्गीपालन पक्षियों को बहुत परेशान करते हैं और उनकी उत्पादन क्षमता पर असर डालते हैं। मुर्ग चींचड़ी मुर्गीपालन पक्षियों की सबसे बड़ी शत्रु है। चींचड़ी इमारती लकड़ी, ईंटों से बने स्थानों के बीच की दरारों में पनपती है। कृमियों तथा बाहरी परजीवियों से बचाव के लिए इन पक्षियों का नियमित रूप से निरीक्षण करते रहना चाहिए।

भारत में मुर्गियों को प्राय: होनेवाली बीमारियां हैं: **रानीखेत, काकसीडिया, मुर्ग चेचक** और **चींचड़ी ज्वर**।

रानीखेत : भारत में मुर्गीपालन पक्षियों का सबसे अधिक सफाया करने वाली यही बीमारी है। यह बहुत ही संक्रामक और घातक रोग है। 80 से 100 प्रतिशत तक रोगपीड़ित पक्षियों की मौत हो जाती है। इस रोग के सर्वाधिक विशिष्ट लक्षण हैं: भूख खत्म होना, सुस्ती, खुमारी, पंखों का बिखरना और निर्बलता। इसमें पक्षी मुंह खोलकर हवा अन्दर निगलता है, श्वास लेना कठिन हो जाता है। हरी पेचिश शुरू हो जाती है। पक्षी में क्रमश: फालिज के लक्षण दीखने लगते हैं।

इस रोग को रोकने के लिए कम उम्र के सभी पक्षियों को टीके लगा देने चाहिएं। उनकी आयु छः सप्ताह होते ही टीके लग जाने चाहिएं। रोगी पक्षियों को तत्काल पृथक् कर नष्ट कर देना चाहिए।

काकसीडिया : कम उम्र के अर्थात् 2 से 12 सप्ताह तक की उम्र के पक्षियों को होनेवाला यह सामान्य रोग है। इसमें मृत्यु दर बहुत अधिक है। इसके सामान्य लक्षण हैं: रुधिरवाली पेचिश, सुस्ती और मुर्गी का परेशान होना। रोगपीड़ित पक्षी इकट्ठे होकर एक कोने में दुबक जाते हैं।

चूज़ों को शुष्क और हवादार स्थानों में रखा जाना चाहिए। अहाते या आवास स्थान को साफ और स्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रखा जाना चाहिए।

मुर्ग चेचक (फाउल पॉक्स) : यह अत्यधिक संक्रामक रोग है। ग्रीष्म में यह अधिक होता है। यह सभी उम्र के पक्षियों पर असर करता है, परन्तु कम उम्र के चूज़ों की अपेक्षा बड़ी उम्र के पक्षियों के रोगपीड़ित होने की आशंका अधिक रहती है। इस रोग से पीड़ित होने वाले कम उम्र के पक्षियों में मृत्यु दर बहुत अधिक होती है। इस रोग के सामान्य लक्षण हैं: कलगी और मुर्गदाढ़ी के ऊपर नुकीली गिल्टियों का उभर आना तथा चमड़ी पर भूरे रंग के धब्बों अथवा फफोलों का प्रकट होना। कभी कभी आंखें और नाक पीले रंग के पनीले स्राव से ढंप जाती हैं।

चार सप्ताह से बड़ी उम्र के सभी चूज़ों को इस बीमारी से बचाने के लिए टीके लगा देने चाहिएं। यह रोगनिरोध का सामान्य उपाय है। जब भी वास्तव में रोग फूट पड़े तो सभी रोगी पक्षियों को पृथक् करके नष्ट कर दिया जाना चाहिए।

चींचड़ी ज्वर : मुर्गीपालन पक्षियों के रोगों में यह सबसे अधिक पाया जाने वाला और अत्यधिक घातक रोग है। यह मुख्यतः चींचड़ी के काटने से फैलता है। इसके सामान्य लक्षण हैं: भूख कम होना, प्यास बढ़ जाना, पक्षी का दुबककर बैठना, तापमान का बढ़कर लगभग 43.3 दर्जे सेल्सियस (110 दर्जे फॉरनहीट) हो जाना। तापमान मृत्यु से 24 से 48 घण्टे पहले गिरकर सामान्य से कम हो जाता है। कलगी और मुर्गदाढ़ी पीली पड़ जाती है और हरे रंग की बीट खूब मात्रा में होती है। टांगों और पंखों की फालिज क्रमशः बढ़ती जाती है। रोग तेज होने पर वह पक्षी ऐंठन से मर जाता है।

इस रोग की रोकथाम के लिए पक्षियों को रखने तथा उनके भागने दौड़ने के स्थान को चींचड़ी से मुक्त रखना चाहिए। बैठने के ऐसे स्थानों की व्यवस्था की जानी चाहिए जो चींचड़ी से बचे रहें। स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी सावधानियों का बड़ी कठोरता से पालन किया जाना चाहिए। रोगपीड़ित पक्षी की चिकित्सा तत्काल ही आरम्भ कर देनी चाहिए।

बतखें

मुर्गीपालन पक्षियों में भारत में दूसरे स्थान पर सबसे अधिक महत्व है बतखों का। बतखें सब स्थानों पर खूब फलती फूलती हैं परन्तु वे स्थान उनके अधिक अनुकूल होते हैं जहां जल और स्थल, दोनों होते हैं।

वर्ष भर में मुर्गी की तुलना में बतख 30 से 40 अण्डे अधिक देती है। बतख के अण्डे मुर्गी के अण्डों की तुलना में अपेक्षतया भारी होते हैं। प्रत्येक अण्डे का वजन 70 से 84 ग्राम तक होता है। मुर्गियों की अपेक्षा बतखें अधिक कठिन परिस्थितियां सह सकती हैं। बीमारियों से तो वे लगभग मुक्त ही रहती हैं। सामान्यत: मुर्गियों के बराबर उनकी देखभाल की जरूरत नहीं होती।

भारत में 1982 में 1 करोड़ 62 लाख 40 हजार बतखें थीं। इनमें से 14 लाख 84 हजार बतखें सुधरी हुई नस्ल की थीं।

बतखों की प्रमुख नस्लें

बतखों की प्रमुख नस्लें तीन प्रकार की हैं अर्थात् मांस, अण्डों और सजावट के लिए उपयुक्त नस्लें। भारत में तो अधिकांश रूप से अण्डे देनेवाली नस्लों की बतखें ही पाली जाती हैं।

बतखों की प्रमुख भारतीय नस्लें हैं—**सिलहट मीट** और **नागेश्वरी**। **इण्डियन रनर** और **खाकी कैम्पवैल** सुधरी नस्लें हैं जो भारतीय परिस्थितियों में खूब पनपती हैं।

सिलहट मीट: यह साधारण नस्ल है। पूर्वी भारत के गांवों में सामान्यत: पायी जाती है। इस नस्ल की बतख का रंग हल्का बादामी होता है। पंखों के सिरों का रंग काला तथा चोंच पीली होती है। जब इसके पंख पूरे निकले होते हैं तो बतख की गर्दन और सिर नीला होता है। प्रत्येक बतख से औसतन 80 से 150 अण्डे मिलते हैं। इसके अण्डे का रंग सफेद होता है। अण्डे का औसत वजन लगभग 55 ग्राम होता है। बड़ी बतख का वजन लगभग 1.8 किलोग्राम होता है।

नागेश्वरी बतखें: अधिकांशत: असम की सूर्मा घाटी के कचार और सिलहट जिलों में तथा पूर्व-बंगाल में पायी जाती हैं। इन पक्षियों की पीठ और शरीर का अधिकांश भाग काला होता है। छाती और गले का रंग सफेद होता है। फार्मों में रखी गयी हों तो इस किस्म की बतखें प्रतिवर्ष 80 से 150 अण्डे देती हैं। अण्डों का रंग नीला तथा कुछ पीलापन लिये हुए होता है। अण्डे का औसत वजन लगभग 56 ग्राम होता है। एक पक्षी का वजन लगभग 2 किलोग्राम होता है।

इण्डियन रनर नस्ल की बतखें भारत के कुछ राज्यों में पायी जाती हैं। परन्तु यह नस्ल विशुद्ध रूप से बहुत कम स्थानों पर ही पायी जाती है। इन बतखों का रंग सफेद होता है। ये बड़े उल्लेखनीय ढंग से शरीर को बिल्कुल सीधा रखती हैं। अपेक्षतया भारी नस्लों की बतखों के अण्डे देने की क्षमता सुधारने के लिए उनसे मेल कराने के लिए ही इण्डियन रनर का बहुत अधिक उपयोग होता है। इसके अण्डे का रंग सफेद होता है और उसका वजन 56 ग्राम से अधिक होता है।

खाकी कैम्पवैल : यह सर्वाधिक लोकप्रिय नस्ल है। भारत में प्राय: इनका पालन इसीलिए होता है कि अण्डे पैदा करके लाभ उठाया जाये। नर बतख का रंग गर्दन और पीठ पर काला होता है। यह बतख खाकी रंग की होती है। एक वर्ष की होने पर इसका रंग धूसर हो जाता है। छ: मास की उम्र में ही ये बतखें अण्डे देने लगती हैं। ये दूसरे वर्ष अधिकतम संख्या में अण्डे देती हैं। चार वर्ष की हो जाने पर इन बतखों को प्राय: बेच दिया जाता है। इनके अण्डों का रंग सफेद होता है। एक अण्डे का औसत वजन लगभग 70 ग्राम होता है।

बतखों का सामान्य प्रबंध

बतखों पर जब पंख आ जाते हैं तो वे तालाबों, झीलों के आसपास रहने को तैयार हो जाती हैं। वहां पर घास, घोंघे तथा अन्य कीट उनका मुख्य भोजन होते हैं। बतखें भोजन की बड़ी शौकीन होती हैं। जो भी चीज पा जाती हैं, उसे खा लेती हैं। बतख का 1 किलोग्राम वजन लगभग 4 किलोग्राम दाना खाने पर बढ़ता है। बढ़ रही और अण्डे देनेवाली बतखों को अच्छा राशन दिया जाना चाहिए। इस बात की सावधानी बरती जानी चाहिए कि बतखें मोटी न हो जायें। बतखों के बच्चों और बतखों के लिए अच्छा सन्तुलित मैश राशन 35 भाग पिसा मक्का अथवा अन्य कोई मोटा अनाज, 20 भाग गेहूं अथवा चावल की भूसी, 30 भाग मूंगफली की खल, 5 भाग मछली भोजन (फिश मील), 5 भाग पिसा चूने का पत्थर अथवा घोंघा, 5 भाग सुखाया हरा चारा, 5 भाग नमक, 5 भाग शार्कलिवर तेल को मिला करके तैयार किया जा सकता है। इस राशन को गीले मैश के रूप में ही दिया जाना चाहिए। बतखें इस मैश के साथ काफी मात्रा में जल भी पीती हैं। इनके लिए साफ और ताजे जल की सदैव व्यवस्था होनी चाहिए। नस्ल बढ़ाने के लिए 5 या 6 बतखों के लिए एक नर बतख होनी चाहिए। बतखें अण्डे प्राय: रात के समय और प्रात:काल देती हैं। सामान्य बतख के अण्डे को सेने में 28 दिन लगते हैं। मस्कवी नस्ल की बतख के अण्डे सेये जाने की अवधि 35 दिन है। सामान्यत: इन अण्डों को मुर्गी के अण्डों की तरह सेया जाता है। बतखों में मादा से नर का भेद उसके घुंघराले पूंछ के पंखों को देख करके किया जा सकता है। नर बतख की आवाज बहुत ही पतली होती है। यह सरलता से सुनायी नहीं पड़ती। बतख की आवाज बहुत भारी होती है।

बतखों की प्रबन्ध व्यवस्था मुर्गियों की प्रबन्ध व्यवस्था के समान ही होती है। बतखें कोलाहल पसन्द नहीं करतीं। इनकी देखभाल बड़ी कोमलता से की जानी चाहिए। छ: से आठ सप्ताह तक की हो जाने तक बतखों को बहते पानी की आवश्यकता नहीं होती। पांच सप्ताह के बाद दौड़ने के लिए बने घास वाले स्थान में आना जाना इनके लिए खतरनाक नहीं रहता।

बतखों को उपयुक्त आवास दिया जाना चाहिए। साथ ही भागने दौड़ने की जगह भी हो तो अच्छा रहता है। इनके रखने का स्थान तालाबों के किनारे अथवा अन्य किसी जलवाले स्थान के निकट होना ठीक रहता है। मुर्गीपालन पक्षी रखने के किसी भी स्थान के किसी भी भाग को बतखें रखने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। इन्हें रखने के स्थान की

छत तो किसी भी प्रकार की बनायी जा सकती है परन्तु फर्श पक्का होना चाहिए, यदि सीमेंट का हो तो और भी अच्छा रहता है। चूजों और बतखों को एक साथ नहीं रखा जाना चाहिए। 3.6 मीटर लम्बाई, 2.3 मीटर चौड़ाई और 1.8 मीटर ऊंचाई वाला स्थान 24 बतखों को रखने के लिए पर्याप्त रहता है।

बतखों में सामान्य तापमान 41.5 से 42.5 दर्जे सेल्सियस (106.7 से 108.5 दर्जे फॉरनहीट) के बीच बदलता रहता है। औसत तापमान 42 दर्जे सेल्सियस (107.6 दर्जे फॉरनहीट) रहता है। श्वसन गति प्रति मिनट 15 से लेकर 48 के बीच में बदलती रहती है। दिल की धड़कन की सामान्य गति 120 से 160 प्रति मिनट होती है।

बड़ी बतखें सामान्यत: रोगों से मुक्त रहती हैं। इन्हें रानीखेत रोग तो बहुत कम होता है। बतखों और बतखों के बच्चों में फैलने वाली बीमारियां हैं : बतख हैजा, बतख वॉयरस हैपाटाइटिस (जिसमें लिवर सूज जाता है), कील रोग और मुर्ग प्लेग। बतखें मकड़ी, खटमलों तथा अन्य नाशक जीवों से मुक्त ही रहती हैं।

हंस

भारत में पाये जाने वाले अधिकतर हंसों का रंग सफेद होता है। उनका थोड़ा या बहुत सम्बन्ध चीनी हंसों से है। देश के कुछ भागों में बादामी पीठवाले हंस भी पाये जाते हैं। सफेद और बादामी हंसों का मेल कराया जाता है तो उनमें मिश्रित रंग नहीं पैदा होता। बच्चों का रंग एक सा ही होता है।

बादामी पीठ वाले हंस का पेट सफेद होता है और पंख, पीठ और सिर बादामी। छाती हल्के बादामी रंग की और गला सफेद रंग का होता है। सफेद हंस का तो सारा शरीर सफेद होता है।

हंसों की प्रमुख नस्लें हैं: **एमडन, इंगलिश व्हाइट, रोमन, टोलूज, व्हाइट चीनी, फाम चीनी, इंगलिश ग्रे** और **भारतीय**। सबसे अधिक वजनी नस्ल एमडन है और सबसे हल्की भारतीय।

हंसों को मुख्यत: मांस प्राप्ति के लिए ही पाला जाता है। ये अच्छा पहरा देने वाले पक्षी हैं। सामान्य नर और मादा हंस का वजन क्रमश: 3.5 और 3 किलोग्राम होता है। बहुत अच्छी नस्ल के अमिश्रित 12 सप्ताह के हंस का वजन 4 किलोग्राम के लगभग होता है। 24 सप्ताह की उम्र में इसका वजन 6 किलोग्राम हो जाता है। मांस के लिए तो इन पक्षियों को बहुत ही उपयोगी समझा जाता है, विशेष रूप से जब कि इन्हें घास खिलाकर ही पाला गया हो। मादा हंस प्रतिवर्ष दो बार 10 से लेकर 20 तक अण्डे देती है। मादा हंस अण्डे प्राय: सर्दियों के दिसम्बर या जनवरी महीने में ही देती है। एक एक दिन छोड़कर मादा हंस प्रात: आठ बजे से दस बजे के भीतर सामान्यत: अण्डे देती है। अण्डे का औसत वजन लगभग 128 ग्राम होता है।

हंसों के पालन का प्रबन्ध

नवजात हंस जब कुछ सप्ताह का होता है तभी यह कठोर परिस्थितियों में रह सकने में समर्थ हो जाता है। इसमें इतनी शक्ति आ चुकी होती है कि अपना घास इत्यादि खाना ढूंढ ले। साथ ही घोंघा और अन्य कीड़े भी यह खाने के लिए ढूंढने में समर्थ होता है। हंस प्राय: वृक्षों की जड़ों इत्यादि में मुंह मारकर अपना खाना प्राप्त कर लेते हैं। निर्बाध क्षेत्रों में, जहां पर घास पर्याप्त मात्रा में होती है, हंस पर्याप्त मात्रा में घास खाते हैं और उन्हें किसी दूसरे प्रकार के भोजन की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी लॉन की काट छांट उनका स्वाभाविक कार्य है। ये मुख्य रूप से घास पर ही पाले जा सकते हैं। पर इन्हें अच्छी तरह पालने और इनके श्रेष्ठतर उत्पादन के लिए इन्हें अनाज खिलाने की आवश्यकता रहती है। खाना इन्हें भीगे मैश के रूप में दिया जाना चाहिए। इनमें हरी वनस्पतियां, मोटा अनाज, चोकर और चूने के पत्थर की कंकड़ियां होनी चाहिएं। अधिक अच्छे परिणाम के लिए 9 से 12 मास के हंसों को बाजार में बेच दिया जाना चाहिए।

सामान्य भारतीय हंस की नस्ल को सुधारने के लिए पहले तो इसे विशुद्ध एमडन अथवा टोलूज नस्ल के नर हंस का मेल करवाया जाना चाहिए। 3 या 4 नस्लों तक यह मेल होते रहना चाहिए। सामान्यत: 4 से 6 हंसों के लिए एक नर हंस रखा जाता है। छोटी नस्लों के अण्डों को सेने में 28 दिन लगते हैं। बड़ी नस्लों के अण्डे 34 से 35 दिन अथवा इससे अधिक दिन की अवधि में सेये जाते हैं। औसत आकार की मादा हंस लगभग 15 अण्डे से सकती है।

10 हंसों को 9 वर्गमीटर फर्श की जरूरत होगी।

हंसों के सामान्य पक्षी रोगों से पीड़ित होने की आशंका नहीं रहती। इनकी ज्यादा देखभाल की आवश्यकता नहीं होती। स्वस्थ हंसों में सामान्य तापमान 42.0 दर्जे सेल्सियस (107 6 दर्जे फॉरनहीट) होता है। श्वसन गति 20 से 25 प्रति मिनट होती है। दिल की धड़कन की गति 110 प्रति मिनट रहती है।

टर्की

भारत में हाल के कुछ वर्षों में टर्की बहुत लोकप्रिय हो गये हैं। इन्हें मुख्यत: मांस के लिए ही पाला जाता है। बहुत अधिक अन्तर वाले जलवायु में भी टर्की उत्पादन लोकप्रिय है। ये अत्यधिक ठण्डी तथा अत्यधिक गर्म जलवायु में अच्छी तरह फलते फूलते हैं। टर्की मांस उत्पादन व्यापार भुने चूजों के व्यापार के समान ही है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि टर्कियों में परिपक्वता धीरे धीरे आती है। बाजार के लिए उपयुक्त स्तर तक पहुंचने में इन्हें अपेक्षतया अधिक समय की आवश्यकता होती है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में टर्की का उत्पादन 1920 से तेजी से बढ़ा। 1920 के दौरान लगभग 40 लाख टर्की फार्मों पर थीं। 1930 तक 1 करोड़ 70 लाख और 1940 तक यह संख्या बढ़कर 3 करोड़ 30 लाख तक हो गई। 1972 तक लगभग 12 करोड़ 90 लाख पक्षियों का उत्पादन हुआ था।

टर्की अब मात्र आभार दर्शाने और अवकाश के भोजों की वस्तु नहीं रह गया है। अब इसका उपयोग सारे वर्ष के दौरान किया जाता है और उपभोक्ता बाजारों में यह मटन, पोर्क और चिकेन का मुकाबला करता है।

भारत में साधारणतया पाये जाने वाले टर्कियों में अधिकांश **ब्रोड ब्रेस्टेड ब्रौंज** नस्ल के हैं। अन्य महत्वपूर्ण नस्लें हैं: **नारफॉक** और **कैम्ब्रिज। ब्रिटिश व्हाइट** (व्हाइट हालैण्ड) और **बैल्ट्सविले व्हाइट** पश्चिमी देशों की लोकप्रिय नस्लें हैं।

ब्रोड ब्रेस्टेड ब्रौंज: सब नस्लों में से अधिक भारी है। अमेरिका में यह नस्ल सबसे अधिक लोकप्रिय है। इसके पंखों का निचला भाग काला होता है। इनका रंग खूब चमकीले हरे रंग का होता है। पहले वर्ष यह औसतन 75 अण्डे देती है। प्रत्येक अण्डे का वजन लगभग 85 ग्राम होता है। अण्डे का रंग सफेद होता है। उस पर बादामी रंग के धब्बे होते हैं। युवा नर टर्की के शरीर का वजन 11 किलोग्राम और इस नस्ल की मादा टर्की का 7 किलोग्राम होता है। इस नस्ल के टर्कियों का मांस अन्य नस्लों के टर्कियों की तुलना में अधिक बढ़ता है। प्रजनन शक्ति और सेये जाने की इसकी शक्ति कम होती है।

टर्कियों का सामान्य प्रबन्ध

टर्कियों की प्रजनन क्षमता अपेक्षतया कम है। भारी नस्लों के टर्कियों में तो प्रजनन क्षमता बहुत ही कम होती है। भारी नस्लों के टर्कियों की अण्डे सेने की क्षमता भी कम होती है। मादा टर्की मार्च के मध्य में अण्डे देना शुरू करती है। अण्डे देने के पहले मौसम में मादा टर्की लगभग 70 अण्डे देती है। मादा टर्की की उम्र 8 से 9 मास हो जाती है तो उसमें अण्डा उत्पादन की प्रेरणा के लिए कृत्रिम प्रकाश का प्रयोग किया जाता है।

टर्कियों के प्रजनन में कृत्रिम वीर्य सेवन विधि भी प्राय: प्रयोग में लायी जाती है। प्रजनन ऋतु में कृत्रिम वीर्य सेवन से औसतन 70 से 80 प्रतिशत टर्कियां बच्चे देती हैं। टर्की के अण्डे को सेने में 28 दिन लगते हैं। ब्रोड ब्रेस्टेड ब्रौंज नस्ल के 80 ग्राम से अधिक वजन के अंडों को ही सेने के लिए चुना जाता है।

तीन वर्ष की टर्कियां परिपक्व हो जाती हैं। प्राय: एक नर टर्की को 5 मादा टर्कियों के साथ रखा जाता है। टर्कियों को प्राय: 3 से 4 वर्ष तक पाला जाता है।

टर्कियों के बच्चे चूजों के समान ही होते हैं। इनके प्रबन्ध के लिए चूजों की प्रबन्ध व्यवस्था जैसी ही व्यवस्था की आवश्यकता होती है। अधिकतम लाभ के लिए टर्कियों को 20 से 26 सप्ताह की उम्र में बेच दिया जाना चाहिए। छाती की चमड़ी की तह की मोटाई से ही टर्कियों में वसा के स्तर को जांचा जाता है।

मैदानों में, बागों में, बगीचों में टर्कियों को यथासम्भव पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त इन्हें गेहूं के चोकर, पिसे हुए चावल, भली प्रकार कटी उबली सब्जियां हर रोज सवेरे खिलायी जानी चाहिएं। खिलाने की विधियां सामान्यत: वही हैं जो कि चूजों के खिलाने की होती हैं। प्याज और लैट्यूस (काहू) और बारीक कटे मांस को छोटे टर्की बहुत पसन्द करते हैं।

जालीदार तारों वाला विशाल शैड, जिसमें जमीन से एक मीटर ऊंचाई पर बैठने के लिए चौड़े चौड़े स्थान हों, बड़ी टर्कियों को सुरक्षित रखने के लिए ठीक रहते हैं। टर्कियों के बच्चों को जालीदार तारों वाले फर्श पर पालना अधिक अच्छा रहता है।

टर्की कठोर परिस्थितियां सहने लायक पक्षी हैं, परन्तु इन्हें कई ऐसे रोग हो जाते हैं जो पालतू या घरेलू मुर्गों को होने की आशंका रहती है। ब्लैकहैड टर्कियों की चिन्ताजनक बीमारी है। टर्की पालन में खटमल एक अन्य संकट है। चूजों की तरह टर्कियों के बाड़ों को साफ और स्वास्थ्यकर अवस्था में रखने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। टर्कियों में सामान्य तापमान 42 दर्जे सेल्सियस (107.6 दर्जे फॉरनहीट) होता है।

गिनी मुर्गी

मुर्गीपालन व्यापार में गिनी मुर्गी की महत्वपूर्ण भूमिका है। इनका पालन मुख्य रूप से मांस के लिए ही किया जाता है। यह अवश्य है कि ये अर्धजंगली पर्यावरण में ही रहना अधिक पसन्द करती हैं। इस जाति के पक्षी भोजन की खोज में दूर दूर तक घूमते हैं। इनकी प्रबन्ध व्यवस्था चूजों की प्रबन्ध व्यवस्था के समान ही की जा सकती है। इनके खाने की व्यवस्था भी वैसी ही रखी जा सकती है।

सामान्यतः तीन चार मादाओं के लिए एक नर रखा जाता है। गिनी मुर्गी को अण्डे सेने में 28 दिन लगते हैं। गिनी मुर्गी का सामान्य तापमान 42 डिग्री सेल्सियस होता है।

ग्रंथ-सूची

इवांस, जी. एच., *एलीफेन्ट्स एण्ड देअर डिसीसेज,* सुपरिन्टेंडेंट गवर्नमेंट प्रिंटिंग, बर्मा, रंगून, 1910.

इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, *ह्यूमेन न्यूट्रिशन विस ए विस एनिमल न्यूट्रिशन इन इंडिया,* 1954.

— *हैंडबुक आफ एनिमल हसबेंडरी,* 1962.

— *ब्रीफ सर्वे आफ सम आफ दा इंपोर्टेन्ट ब्रीड्स आफ केटिल इन इंडिया,* मिसलेनियस बुलेटिन नं. 46, 1960.

एफ. ए. बुलेटिन, फूड एण्ड एग्रीकल्चरल आर्गनाइजेशन आफ यूनाइटेड नेशंस, रोम।

इंडियन एग्रीकल्चर इन ब्रीफ **डायरेक्टोरेट आफ एकानामिक्स एण्ड स्टेटिस्टिक्स, मिनिस्ट्री आफ एग्रीकल्चर,** नवम् संस्करण।

कौड़ा, आर.एल., *केटिल डवेलपमेंट इन दा उत्तरप्रदेश,* डिपार्टमेंट आफ एनिमल हसबेंडरी, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, 1950

— *स्वाईन हसबेंडरी एंड पिगरी प्रोडक्टस,* इंडियन काउंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, रिव्यू सीरिज नं. 27, 1958

— *इंडियन ब्रीड्स आफ लिवस्टाक (इंक्लुडिंग पाकिस्तान);* प्रेम पब्लिशर लखनऊ, 1961.

कुमार, एल.एस.एस, आदि., *एग्रीकल्चर इन इंडिया,* खंड तीन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, 1963.

खोट, एस.एस., *शीप एण्ड वूल इन इंडिया,* इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, फार्म बुलेटिन नं. 16, 1957.

जुनेजा, जी.सी., *हार्स ब्रीडिंग,* एनिमल हसबेंडरी डिपार्टमेंट, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1957.

नंदा, पी.एन., *केमिल्स एण्ड देअर मेनेजमेंट,* इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, रिव्यू सीरीज नं. 16, 1957.

नायडू, पी.एम. एन., *पॉल्ट्री कीपिंग इन इंडिया,* इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, 1959.

बेनेडिक्ट, एफ.जी., *दा फिजिआलाजी आफ दा एलीफेन्ट,* कार्नेगी इंस्टिट्यूट, वाशिंगटन, 1936.

भाटिया, एस.एस., *गोट–दा पुअर मेन्स काउ,* डिपार्टमेंट आफ एनिमल हसबेंडरी एण्ड फिशरीज, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1954.

मिलर, डब्ल्यू. सी., (सं.), *ब्लेक'स वेटेरिनरी डिक्शनरी,* एडम एण्ड चार्ल्स ब्लेक लि. लंदन, 1962.

रंधावा, एम.एस., *एग्रीकल्चर एण्ड एनिमल हसबेंडरी इन इंडिया,* इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, 1962.

राइट, नार्मन. सी., *रिपोर्ट आन दा डैवलपमेंट आफ दा केटिल एण्ड डेयरी इंडस्ट्रीज इन इंडिया,* मैनेजर आफ पब्लिकेशंस भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1937.

लीडक्कर, आर., *दा ग्रेट एण्ड स्माल गेम आफ इंडिया, बर्मा एण्ड तिब्बत,* रोलेंड वार्ड लिमिटेड, लंदन, 1900.

लीसे, ए. एस., *ए ट्रिटाइज आन दा वन हम्पड केमिल इन हेल्थ एण्ड डिसीज,* हेयन्स एण्ड संस, मैडन लेन, स्टेमफोर्ड, लिंकनशायर, 1943.

वार्नर, जे.एन., *डेयरीइंग इन इंडिया,* मेकमिलन कं. लिमिटेड, कलकत्ता, 1951.

सिंह, हरबंस, *ए सर्वे आफ दा ब्रीड्स आफ केटिल इन इंडिया,* लाहौर बुक शाप, लुधियाना, 1936.

— *दा की विलेज स्कीम इन इंडिया,* डायरेक्टोरेट आफ एक्सटेंशन, मिनिस्ट्री आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1961.

— *हाउ टू रेज पिग्स फार प्राफिट,* डायरेक्टोरेट आफ एक्सटेंशन, मिनिस्ट्री आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1964.

— *इंडियन ब्रीड्स आफ केटिल एण्ड वफेलोज एण्ड देअर एवेलिबिलिटी,* डायरेक्टोरेट आफ एक्सटेंशन, मिनिस्ट्री आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, नयी दिल्ली, 1966.

— *मिल्क एण्ड मिल्क प्रोडक्ट्स,* मिनिस्ट्री आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1968.

— *ए हैंडबुक आफ एनिमल हसबेंडरी फार एक्सटेंशन वर्क्स,* मिनिस्ट्री आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1969

सिंह, हरबंस और अय्यर, एस.जी., *कामन डिसीसेज आफ फार्म एनीमल्स एण्ड पोल्ट्री,* डायरेक्टोरेट आफ एक्सटेंशन, मिनिस्ट्री आफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, भारत सरकार, नयी दिल्ली, 1961.

सिंह, हरबंस और पारलेकर, वाई.एम., *बेसिक फेक्ट्स अबाउट केटिल वेल्थ एण्ड एलाइड मेटर्स,* सेंट्रल कौंसिल आफ गौसंवर्धन, नयी दिल्ली, 1966.

सिंह, हरबंस और अर्ल, एन. मूरे, *लिवस्टाक एण्ड पोल्ट्री प्रोडक्शन,* प्रेंटिस हाल आफ इंडिया, तीसरा संस्करण, नयी दिल्ली, 1978.

सेन, के.सी. और रे, एस.एन., *न्यूट्रिटिव वेल्यूज आफ इंडियन केटिल फीड्स एण्ड दा* फीडिंग आफ एनिमल्स, इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल रिसर्च, नयी दिल्ली, 1964.

श्रीवास्तव, जे. एस., और खेरा, आर. सी., *टेक्स्ट बुक आफ एनिमल हसबेंडरी,* इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चर रिसर्च, नयी दिल्ली, 1960.

अनुक्रमणिका

प्रिन्ट परफेक्ट, मायापुरी, नई दिल्ली द्वारा मुद्रित